कर्म-मीमांसा

आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री.

आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री

प्रथमावृत्ति | सितम्बर सन् १९५४ ई० | मूल्य २) रु०

कर्म-मीमांसा

लेखक—
सामवेद भाष्यकर्त्ता तथा आर्यसिद्धान्त सुधाकर
आदि पुस्तकों के लेखक—वैदिक अनुसन्धानक
आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री
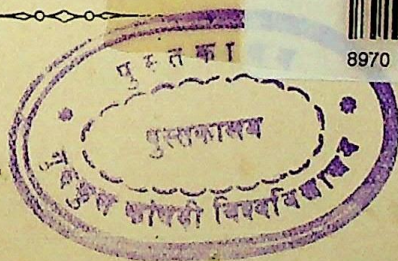
प्रथमावृत्ति | सितम्बर सन् १९५४ ई० | मूल्य २) रु०

ओ३म्

संस्मृति

जिसने अपने शैशव-काल में ही
सांसारिक कार्यकलाओं के बिना आरम्भ किये ही
स्वर्ग का मार्ग लिया,
उस प्रिय पुत्र मेधातिथि की
चिरस्मृति में
पिता की ओर से
यह संस्मरण प्रतीक

वैद्यनाथ शास्त्री.

प्राक्कथन

लाहौर के जीवनकाल में मैंने सामवेद का भाष्य किया और 'आर्य-सिद्धान्त-सागर' जैसी पुस्तक लिखकर आर्य जनता को भेंट किया। हस्त लेख के रूप में अन्य भी पुस्तकें लिखी हुई थी परन्तु कुछ तो अभी छपी नहीं और कुछ अत्यन्त उपयोगी पुस्तकें देश के दुःखद विभाजन के कारण वहाँ की वहीं लाहौर में ही पाकिस्तान की भेंट होगईं। आज उनकी सामग्री तक भी अपने पास उपस्थित नहीं। लाहौर की बातें लाहौर के साथ ही रहगईं और पाकिस्तान बनजाने से जीवन को पुनः नये सिरे से प्राम्भ करना पड़ा।

लाहौर से जान लेकर भगकर नासिक आना पड़ा। वहाँ रहते हुए सन् १९५० में इस प्रस्तुत पुस्तक के लिखने का विचार मन में उत्पन्न हुआ। कठिनाइयाँ इतनी थीं कि पुस्तक का लिखना प्रारम्भ करने का भी साहस नहीं होता था। जिस लेखनी ने पूर्वोक्त बड़ी बड़ी पुस्तकें लिखने में साहस नहीं खोया था, अब परिस्थितिवश वह साहस नहीं करती थी। परन्तु मेरी विदुषी पत्नी श्रीमती उर्मिलादेवी शास्त्री के साहस देने वाली प्रेरणा और सहयोग ने इस पुस्तक के लिखने का कार्य प्रारम्भ

कराकर पूर्ण भी करा दिया। पति-पत्नी में धन्यवाद की प्रथा नहीं अतः मैं इस प्रचालन को तोड़ने का अपराधी भी नहीं बनना चाहता। पुस्तक तो नासिक में ही पूर्ण होगई थी। केवल इसका अन्तिम रूप देना और छपना बाक़ी रहगया था, वह भी शीघ्र ही पूरा होने वाला है।

इस देश में बड़े-बड़े धनी हैं और आर्यसमाज में भी इनकी कमी नहीं, परन्तु ऐसे कार्यों में इनकी सहायता नहीं मिलती—यह लेखक-वर्ग और अनुसन्धानकों को सुतराम् विदित है। मैं वेदों का अनुसन्धान करता हूँ, पुस्तकें भी लिखता हूँ परन्तु क्या कठिनाई है—वह मैं ही जानता हूँ। किसी प्रकार से मैं अपने बलपर अपनी जेब से बड़ी ही कठिनाई के साथ इस पुस्तक के छपाने का प्रबन्ध कर इस रूप में शीघ्र ही प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहा हूँ।

पुस्तक का विषय दार्शनिक है। इसमें पाश्चात्य और पौरस्त्य सभी दृष्टियों से कर्म के विविध विषयों और कर्तव्याकर्तव्य पर विचार किया गया है। यह विषय आवश्यक और अत्यन्त उपयोगी है। दर्शन के विद्यार्थियों, जन-साधारण तथा विज्ञ जनों सभी के उपयोग में आने योग्य यह पुस्तक हो—ऐसा ही प्रयत्न किया गया है। आज हिन्दी संसार को कर्तव्यमीमान्सा सम्बन्धी पुस्तकों की महती आवश्यकता है। इसी के पूर्त्यर्थ यह प्रयत्न किया गया है। आशा है जनता और आर्य-जन इस से लाभ

उठायेंगे। यदि यह वस्तुतः पाठकों को लाभकारी हुई तो लेखक अपना प्रयत्न सफल समझेगा।

वैदिक यन्त्रालय, अजमेर के प्रबन्धक और कर्मचारियों की तत्परता के लिये मैं धन्यवाद देता हूँ। मुद्रण में कहीं-कहीं पर कुछ साधारण त्रुटियाँ रहगई हैं, वे अगले संस्करण में ठीक करदी जावेंगी।

पोरबन्दर,
ता० ३०-८-५४.

वैद्यनाथ शास्त्री.

अनुक्रमणिका

कर्म-मीमांसा

प्रथम सोपान

विषय-पीठिका

कर्म के विषय में थोड़ा-सा भी विवेचन करना दार्शनिक-क्षेत्र में प्रवेश किये विना साध्य नहीं। दर्शन-विज्ञान में यह एक ऐसा जटिल विषय है कि इस पर जितना भी गुत्थी सुलझाने का प्रयत्न किया जावे थोड़ा है। सत्ता और विज्ञान के दो वादों को लेकर दर्शन-विज्ञान ने जो उन्नति की है उसकी दृष्टि से कर्म-विज्ञान पर बहुत न्यून परिश्रम किया गया है। वास्तविक स्थिति का यदि पर्यवेक्षण किया जावे तो ज्ञात होगा कि कर्मविज्ञान के विना ये दोनों विज्ञान अधूरे ही रह जाते हैं। कर्म-विज्ञान का ही एक प्रधान विषय है नीति-शास्त्र जिसको कर्तव्य-मीमांसा शास्त्र का नाम भी दिया जा सकता है, और जिसके विना दर्शन-विज्ञान की सर्वांग पूर्त्ति नहीं होती। समाज का निर्माण, धारण और व्यवस्थापन विना इसके अत्यन्त कठिन है। जब हम प्रत्येक दिनों के अपने व्यवहार में ज्ञान और कर्म का समन्वय देखते हैं, तो फिर यह किस प्रकार संभव है कि कर्म पर विचार न किया जावे। यदि केवल ज्ञान ही को अपनाया जावे, जो जीवन में एकान्ततः सर्वथा असंभव है, तो संसार से कला और कृतियों का अभाव हो जावेगा। एक भी क्षण सजीव जगत् का ऐसा नहीं जिसमें वह बिना कर्म किये रह सकता हो। यदि बिना कर्म किये जीवनयात्रा सफल हो

सकती होती तो संसार के सारे झगड़ों की इति श्री सरलता से होजाती और मानव केवल मस्तिष्क की ऊँची उड़ान विविध विज्ञान के वादों से ही पूर्णतया सन्तुष्ट रहता। परन्तु संसार में निदर्शन ऐसा नहीं। किसी भी इष्टानिष्ट की अभिप्राप्ति केवल जान लेने मात्र से नहीं होती जब तक कि उसके लिए जानने के अनुसार ही प्रयत्न न किया जावे। प्राप्ति अथवा लाभ ज्ञान के शरीर को प्रयत्न अथवा कर्म से मण्डित करने से ही हो सकता है। केवल विज्ञान विकलाङ्ग है, यदि उसके साथ कृति, कला अथवा कर्म का समन्वय न हो। सत्ता का विश्लेषण करते हुए जहां हम दृश्यमान संसार की व्यक्ति समष्टि सत्तावों के दृश्यादृश्य कार्य कारण की परीक्षा कर मूल-कारण सत्ता का निर्धारण करते हैं तथा ज्ञान का विचार करते हुए उसके उद्गम पर पहुँचने का प्रयत्न करते हैं, वहां हमें कर्म की मीमांसा जीवन-सत्ता के कर्त्तव्याकर्त्तव्यों का निर्णय करके उसके अन्तिम उद्देश्य को बतलाने में सहायक है। सत्ता का जिस प्रकार यह मूल सिद्धान्त है कि कोई भी भाव भाव से, अस्तित्व अस्तित्व से ही स्थिति में आता है अभाव और अनस्तित्व से नहीं; तथा ज्ञान के क्षेत्र का यह सार्वभौम नियम है कि कोई भी ज्ञान विना ज्ञाता और ज्ञेय के नहीं हो सकता, शून्य अथवा अभाव में ज्ञातृ, ज्ञेय और ज्ञान की स्थिति नहीं बन सकती, उसी प्रकार यह भी अबाध सिद्धान्त है कि कोई प्राप्ति अथवा लब्धि प्रयत्न एवं कर्म के विना नहीं हो सकती और इसी की द्योतिका यह अनुमिति है कि—यत्र प्राप्तिस्तत्र गतिः। बहुधा कर्म विषय का विचार करते समय लोग सत्ता और ज्ञान के सूक्ष्म तथ्यों का विचार विना किये ही करते हैं परन्तु यह प्रक्रिया व्यवहारार्थ नहीं हम किसी भी कर्म विषय का विवेचन तब तक नहीं सफलता के साथ कर सकते जब तक कि दृश्य-

मान जगत् और कर्म के कर्त्ता के अस्तित्व और स्थिति का पता नहीं लगा लेते। जगत् के कारण और कर्म के उद्गम तत्व का बिना विचार किये कर्म की मीमांसा की हो नहीं जासकती है। हमारा अहर्निश का कर्मकलाप इस दृश्यमान् जगत् में है और हम हैं उस कर्मकलाप के सूत्र-संचालक। जब तक हम इस दृश्य जगत् और अपने अस्तित्व को नहीं समझ लेते कर्म-विषयक विचार को किसी सन्तोषप्रद परिणाम पर कैसे पहुँचा सकेंगे! यह दृश्यमान् जगत् क्या है? किसके लिये है? हम कौन हैं? कहाँ से हमारा अस्तित्व है? और हमसे इस दृश्य जगत् का क्या सम्बन्ध है? तथा इस सारे प्रपंच का अन्तिम उद्देश्य क्या है? इत्यादि प्रश्नों का जब तक समाधान न किया जावे कर्म के रहस्य को भली प्रकार नहीं खोला जा सकता, क्योंकि इनके साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस दृश्यमान इन्द्रियों को प्रत्येक क्षण गोचर होने वाली सृष्टि के लिये हम व्यवहार में संसार, जगत्, सृष्टि और विश्व शब्द का प्रयोग करते हैं। सभी प्रयोग एक महती दृष्टि को उद्देश्य में रखते हैं। संसार और जगत् दोनों प्रयोग लगभग स्वल्पभेद के साथ एक ही अर्थ में प्रयुक्त है। इसको संसार इसलिये कहा जाता है कि इसमें सृति, सरण अथवा गति है। जगत् भी इसको इसके गतिमान होने से ही कहा जाता है। यह प्रत्येक क्षण में चलायमान है अतः यह जगत् है। जगत् का प्रत्यक कण गतिमान अथवा चलायमान हैं, इसीलिये यह चलता हुआ कहा जाता है। गच्छतीति जगत् इस व्युत्पत्ति के अनुसार जगत् वह है जो सर्वथा चलायमान हो। यद्यपि संसार और जगत् दोनों ही जगत् की गतिशीलता के द्योतक हैं परन्तु दोनों के भावों में थोड़ासा अन्तर अवश्य है। संसृति और संसरण भी गति ही हैं परन्तु वे साधारण गतियें नहीं हैं।

संसार में जो भी गति दिखलायी पड़ती है उसमें समन्वय है। यह संसार की गति क्रमबद्ध है और क्रम को बदलते हुए संचालित हो रही है। क्रम का बदलना तीन बातों से सम्बन्ध रखता है प्रारंभ, स्थिति और परिवर्तन। ये तीनों ही कभी-कभी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश के नाम से कहे जाते हैं। चूंकि जगत् की प्रत्येक क्रिया जो उसके पदार्थमात्र में होरही है गति का रूप धारण करते हुए परिवर्तन के आशुक्रम में उत्पत्ति-क्रम से चलती है अतः इस बात के द्योतन के लिये इसका नाम संसार पड़ा। जगत् नाम यद्यपि सभी गतियों को सामान्यतः दर्शाता है परन्तु उसका यहां तात्पर्य परिणाम और परिवर्तन से है। संसार में एक महान् परिवर्तन देखा जाता है। हर समय सारे पदार्थ इस परिवर्तन के विषय हैं। यदि जगत् में गति का साधारण ही अर्थ लिया जावे तो एक महान् कठिनाई समक्ष आसकती, वह है 'विश्व' शब्द का विचार। जगत् जहां गतिमान होने से जगत् है वहां पूर्ण और 'कुल' अथवा समूचा होने से विश्व कहलाता है। यदि गति का अर्थ चलना किया जावे तो पूर्ण विश्व तो चल नहीं सकता। उसका एकांश भले ही चले, पूरे के चलने की संभावना बन नहीं सकती। अंश विशेष तो विश्व के एक देश में गति कर सकता है परन्तु पूर्ण विश्व किस में गति करेगा। उसके लिये देश अथवा स्थान कहाँ है कि वह चले। पूरा विश्व सारे अवकाश को लेकर है फिर वह किस अवकाश में गति करेगा। अंश तो गति कर सकता है पूर्णता और 'कुल' भला किस प्रकार गति करेगा और किसमें गति करेगा। गति के लिये देश की आवश्यकता है, पूर्णता में यह भेद कहां। इसलिये जब पूर्णता, या पूर्ण विश्व चल नहीं सकता तो गति का अर्थ ऐसा करना पड़ेगा जो समन्वय खावे। इस समन्वय के लिये गति का अर्थ

'परिणाम' अथवा परिवर्तन करना चाहिए। परिणाम का अर्थ साधारणतः परिवर्तन है। परन्तु दार्शनिक दृष्टि से यह थोड़ा और भी गम्भीर है। मिट्टी जब कुम्हार की चाक पर चढ़कर क्रमशः गोले और कपालों के रूप में होती हुई घड़े के रूप में आजाती है तो हम कहते हैं कि यह मिट्टी में घड़े का परिणाम हुआ है। परन्तु इससे भी सूक्ष्मता से जब हम घड़े में अवस्था बदलते हुए अन्तिम हालत में पुनः ठीकरों के रूप में उसे पाते हैं ब भी हम परिणाम ही कहते हैं। मिट्टी का घड़े के रूप में आने तक जो परिवर्तन हुए वे सभी परिणाम शब्द से ग्रहण किये जाते हैं। निष्कर्षरूप से किसी वस्तु का पूर्वधर्म बिना निवृत्त हुए उससे धर्मान्तर की उत्पत्ति का नाम परिणाम है। यह परिणाम जगत् के पदार्थों में सदा होता रहता है। एक वस्तु से दूसरे वस्तु की उत्पत्ति को धर्म परिणाम कहा जाता है क्योंकि इसमें पूर्ववस्तु का धर्म बना रहते हुए उसने किसी धर्म विशेष को धारण कर लिया। परन्तु जब वह वस्तु उत्पन्न हो गई तो उसके आकार आदि लक्षणों का बदलना नया पुराना होना अवस्था-परिणाम है। उसका उत्पत्ति काल से लेकर वर्तमान तक आने में पूर्व से वर्तमान तक जो लक्षणों में परिवर्तन होता है वह ही लक्षण-परिणाम कहा जाता है। लक्षण-परिणाम केवल काल-क्रम मात्र है। ये सारे परिणाम वस्तुमात्र में हैं और क्रम के परिवर्तन के कारण ही ये होते रहते हैं। यदि क्रम का सिलसिले से अन्यत्व होना न पाया जाता तो परिणाम के समझने के लिये कोई साधन हमारे पास नहीं था। अस्तु जो कुछ भी हो, जगत् में परिणाम है और इसी कारण उसका नाम भी जगत् है। परन्तु ये परिणाम अंधाधुन्ध नहीं होरहे हैं, इनमें भी एक क्रम और संचालित नियम पाया जाता है। उस संचालित नियम में ही ये परिणाम वस्तुओं में दिखाई पड़ रहे

हैं। यदि ये युगपत् होते तो व्यवस्था की आवश्यकता नहीं थी परन्तु ऐसा न होकर ये क्रमिक गति से होते हैं अतः क्रम बिना संचालन और व्यवस्था के हो नहीं सकता। परिणाम की व्यवस्था जिस संचालन का निदर्शन करती है उसे देखकर परिवर्त्तन को तीन स्थिति में समझा जा सकता है। प्रारंभ-क्षण, स्थितिक्षण और विनाशक्षण। यद्यपि इनमें अनेक परिणाम होते हैं फिर भी विचार में ये तीन ही आते हैं। इन्हीं को अभिव्यक्ति, स्थिति और प्रलय शब्दों में हम बहुधा व्यवहृत कर देते हैं। ये उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय क्रियायें ही क्रमानुपाती परिणामों के समन्वय से समुपलब्ध होती हैं। परिणामों के इस समन्वयात्मक संचालन को ही सृष्टि शब्द व्यक्त करता है। विश्व पूर्णता को बतलाता है, संसार और जगत् उसके परिवर्त्तन को बतलाते हैं, और परिवर्तन नियमित ढंग पर संचालित हैं, यह 'सृष्टि' पद से व्यक्त होता है। सृष्टि का अर्थ बनाना है अथवा रचना है। रचन नियम और नियंत्रण की द्योतिका है। वह नियंत्रण ही सारे परिणामों को तीन पूर्वोक्त स्थितियों में दिखलाता है। जगत् में सर्जन यह है कि उसमें उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय धर्म पाये जाते हैं। सारे परिणाम इसके ही अन्तर्भूत हैं। संसार जगत् में जिस गति का द्योतक है वह इसके एक द्रव्य से मिलकर आरंभ नियम से दूसरे द्रव्य के रूप में आने को बतलाती है। इसी को आधार मान कर हम यह मानते हैं कि जगत् परमाणुओं का पुंज है और वह एक परमाणु के दूसरे से मिलकर आरंभ होकर इस वर्तमान रूप में आया है। जगत् पद इसके परिणामों के विश्लेषण से इसके प्रत्येक पदार्थ को परिणामक्रम के नियम से दूध से दही की भांति परिणत हुआ बतलाता है। परन्तु ये आरंभ और परिणाम नियमपूर्वक घटित हो रहे हैं, यदृच्छा और

अंधाधुंध पने से नहीं, यह बात इससे व्यक्त होती है कि यह एक सृष्टि है। अपने आप यह नहीं बल्कि किसी की बनाई हुई है। जगत परिणाम का पुंज है, परिणाम सदा उत्पन्न होते रहते हैं और वे नियमित रूप में घटित होते हैं—यही संसार जगत् सृष्टि आदि नामों से प्रकट होता है। परन्तु इतने से ही दृश्यमान जगत् की पूरी व्याख्या नहीं होजाती है। ये तो बाह्य क्रियायें हैं जो इसके प्रत्येक अंग में दिखलाई पड़ रही हैं। इन्हीं को संसार समझ लेना एक पूरी सच्चाई के आधे को ही पकड़ना होगा। जगत् कि इन बाह्य क्रियाओं के आधार पर जिन विचारधाराओं के व्यक्तियों ने यह परिणाम निकाला है कि जगत् किसी वस्तु विशेष अथवा तत्व विशेष का नाम नहीं अपितु क्रिया, प्रतिक्रिया और समन्वित क्रिया के प्रवाह का नाम है, वे वास्तव में जगत् के उस बाहरी विषय को लेकर खड़े हैं जो जगत् की समस्या के समूचे सत्य का एक छोटा आधा है। वास्तव में जहां तक इन क्रियाओं का सम्बन्ध है इनसे कोई इनकार नहीं कर सकता। परन्तु यही जगत् है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जब बीज बोया जाता है तो भूमि में इसके पड़ते ही इसका सड़ना प्रारंभ होता है बीज का नाश होजाता है और उससे वृक्ष की उत्पत्ति होती है। वृक्ष के नाश से अन्न होता है। इस प्रकार क्रिया और प्रतिक्रिया के पश्चात् जो समन्वित क्रिया हुई, उसका परिणाम अन्न का बाहुल्य हुआ। यही दशा संसार की भी है। इसमें भी क्रियायें प्रतिक्रियायें हुआ ही करती हैं। इनका तारतम्य बना रहता है। इनको हम द्वन्द्व कह सकते हैं। काष्ठ में मृदुता और काठिन्य दोनों हैं परन्तु ये दोनों ही काष्ठ हैं ऐसा नहीं कहा जासकता। इन द्वन्द्वों का वर्णन करना केवल जगत् के व्यापार पर स्थूलदृष्टि डालना है। ये ही जगत् हैं, परिणाम ठीक नहीं है। भौतिक दृष्टि से समस्त

जगत् में वर्तमान पदार्थ शीत और उष्ण द्वन्द्वों के परिणाम हैं परन्तु शीत और उष्ण को ही जगत् नाम नहीं दिया जासकता। कुछ भी हो ये क्रियायें जगत् में हैं और सदा दृष्टिगोचर होरही हैं। जब हम जगत् को परिणामी कहते हैं तो उसके परिणामों में इनका भी समन्वय होजाता है। क्रिया और परिणामों का विचार तो इतने से होजाता है परन्तु इनके अतिरिक्त जिन वस्तुओं में ये परिणाम और क्रियायें घटित होरही हैं, वे क्या हैं कि जिनको मिलाकर यह जगत् विश्व शब्द से व्यवहृत होता है, इसका विचार करना ही दृश्यमान जगत् के स्वरूप पर पहुँचना है। परिणामों के विषयभूत वस्तु कौन है? अथवा इन परिणामों का प्रभाव किन वस्तुओं पर पड़ता है, यह ही विचारणीय है। संसार में परिणाम की विषयीभूत वस्तुयें असंख्येय हैं, सबका परिगणन असंभवसा है परन्तु सूक्ष्मेक्षिका से चैतन्य की लीला को छोड़कर उनके दो विभाग किये जा सकते हैं। वे सेन्द्रिय जगत् और निरिन्द्रिय जगत् के नाम से कहे जासकते हैं। इस संसार में एक भाग इन्द्रियवस्तु का है और दूसरा जो इन्द्रियों से अतिरिक्त हैं। सेन्द्रिय पदार्थ केवल इन्द्रियाँ हैं और निरिन्द्रिय पदार्थ में समस्त जड़ जगत् आजाता है। आंख, कान, नाक, त्वक्, रसना, हाथ, पांव, गुदा, मूत्रेन्द्रिय और जिह्वा तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार ये सेन्द्रिय सृष्टि के पदार्थ हैं। समस्त संसार के कारण भूत पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आकाश और इनके मूलतत्व, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और प्रकृति ये निरिन्द्रिय सृष्टि के पदार्थ हैं। इनमें सेन्द्रिय सृष्टि के पदार्थों में मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आन्तरिक इन्द्रिय होने से अन्तःकरण कहे जाते हैं, आंख आदि ज्ञान के साधन-भूत पांच इन्द्रियें ज्ञानेन्द्रिय और हाथ, पांव आदि कर्म के साधन होने से कर्मेन्द्रिय हैं। मन को कर्मेन्द्रिय के साथ सम्बन्ध

होने से कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय के साथ सम्बन्ध होने से ज्ञानेन्द्रिय कहा जाता है। निरिन्द्रिय वर्ग में शब्द, स्पर्श आदि पांचों पांच ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं और पृथ्वी जल आदि पांच तत्वों के कारण हैं। जड़ जगत् की जितनी रचना है सब इन पांच तत्वों का ही परिणाम हैं। हमारे शरीर की रचना में भी इन्हीं की कारणता है। जिससे ये सेन्द्रिय और निरिन्द्रिय तत्व उत्पन्न होते हैं उसका नाम प्रकृति है। प्रकृति में सत्व, रजस और तमस् नाम के तीन गुण हैं। इनका व्यापार बहुत चंचल है। ये गुण क्षण मात्र भी स्थिर नहीं रहते, यही कारण है कि जगत् में विविध परिणाम घटित होते रहते हैं। प्रकृति के इन गुणों में क्षोभ होकर इनके सम-विषम भाव के कारण जगत् और प्रलय अवस्थायें होती हैं। जगत् गुणों की विषमावस्था में आने का परिणाम है और प्रलय साम्यावस्था में उनके आजाने का परिणाम है। प्रकृति मूलतत्व यद्यपि एक है परन्तु गुणों की भिन्नता के कारण जगत् के पदार्थों में भिन्नता आजाती है। जिस प्रकार वर्षा की एक बूँद सेव में मिठास और मिर्च में अथवा नीम में कड़वा पन उत्पन्न करती है उसी प्रकार एक प्रकृति से संसार के कार्यों में भिन्नता इन तीनों गुणों के परिणामभेद के कारण आया करती है। यदि ये तीन गुण न होते तो प्रकृति से भेदात्मक जगत् न ही उत्पन्न हो सकता था। प्रकृति से लेकर सेन्द्रिय और निरिन्द्रिय सृष्टि के पदार्थों के परिणाम का क्रम सृष्टि क्रम कहा जाता है और नीचे से ऊपर को चलने का क्रम वास्तव में प्रलय का क्रम है। प्रकृति से गुणों में क्षोभ होने के कारण प्रथम तत्व बुद्धि, जिसका दूसरा नाम महत्तत्व है परिणत होता है। उससे यह अहंकार, जो विभेदक है उत्पन्न होता है। अहंकार की दो शाखायें हो जाती हैं। एक ओर उससे दश इन्द्रियां और ग्यारहवां मन

उत्पन्न होता है और दूसरी ओर उससे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि निरिन्द्रिय सृष्टि के मूलतत्व पैदा होते हैं। इन सूक्ष्म पंचतत्वों से पृथिवी, जल आदि पांच स्थूल तत्व पैदा होते हैं और उनके मिश्रण से विविध सृष्टि-पदार्थों का प्रादुर्भाव होता है। मूलकारण प्रकृति बिना विकार है। महत्तत्व से लेकर अहंकार और पांच सूक्ष्म तत्व प्रकृति के विकार होते हुए भी अपने से उत्पन्न होने वाले पदार्थों के कारण भी हैं। ग्यारह इन्द्रियें और पृथिवी आदि पांच स्थूल तत्व केवल विकार हैं। इनमें प्रकृति से लेकर पांच सूक्ष्म तत्वों पर्यन्त सप्त पदार्थों में तत्वान्तर परिणाम होता है किन्तु सोलह पदार्थ जो विकार मात्र कहे गये हैं उनमें केवल धर्म, अवस्था और लक्षणों का परिणाम होता है। यह हुआ परिणाम का क्रम। प्रलय का क्रम इससे उल्टा है। जिस प्रकार स्वर्णाभूषणों का अन्त उनमें कारणरूप से विद्यमान स्वर्ण में होता है उसी प्रकार इन पूर्वोक्त कहे पदार्थों का प्रलय अपने २ उत्पत्ति के कारणों में होता है। पृथिव्यादि का लय पांच सूक्ष्म तत्वों में होता है और उनका लय अहंकार में होता है। इन्द्रियां भी अपने कारण अहंकार में विलीन होती हैं। अहंकार पुनः महत्तत्व में और महत्तत्व आदिकारण प्रकृति में अन्तर्हित होजाता है। यही प्रलयक्रम है। प्रकृति से लेकर सेन्द्रिय और निरिन्द्रिय सृष्टि के पदार्थों तथा उनसे उत्पन्न होने वाले विविध संघातों में ही परिणाम अथवा परिवर्तन घटित होते हैं। जगत् में होने वाले परिणामों के विषय ये ही पदार्थ हैं। ये ही विविध परिणामों के घटित होने से इस दृश्य संसार के चाकचाक्य को उपस्थित कर रहे हैं। परिणाम के विषयभूत ये ही वास्तव में विविध परिणामों के वश हुये विचित्र दृश्यों को जगत् में दिखलाते हैं परिणामों का इन पर प्रभाव दृश्यों का उत्पादक है। ये विविध दृश्य ही 'विश्व' शब्द अथवा दृश्यमान

जगत् के नाम से कहे जाते हैं। सेन्द्रियसृष्टि के पदार्थ इस दृश्य को देखने के साधन हैं। यह दृश्य इन्हीं साधनों से देखा जाता है। निरिन्द्रिय सृष्टि के पदार्थ परिणामों के वश में हुये विविध दृश्य को दिखलाते हैं। यह दृश्य ही जगत् है। दृश्य को देखने वाला जब इस दृश्य को देखता है तो उसे जो आन्तरिक सम्वेदन होता है, वह दो प्रकार का होता है। किसी दृश्य के देखने पर देखने वाले के अन्तःकरण के अनुकूल जो वेदना होती है उसका नाम सुख और जो वेदना अन्तःकरण के प्रतिकूल होती है, उसका नाम दुःख है। कोई दृश्य एकान्ततः सुख एवं दुःख का साधन नहीं। उसमें सुख और दुःख दोनों ही हैं। जो वेदन देखने वाले के अन्तःकरण के अनुकूल है वह सुख-पदवाच्य है और जो विपरीत है वह दुःख का अभिधेय है। सुख और दुःख भी आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक भेद से तीन प्रकार के होते हैं। यद्यपि दृश्य भेद से सुख और दुःख अनन्त प्रकार के हो सकते हैं परन्तु सबका संक्षेप में अन्तर्भाव तीन ही वर्ग में होजाता है। दुःख भी परिमाण और परिस्थिति भेद से अधिक न्यून होते रहते हैं। परन्तु सारे दुःखों का विश्लेषण करने पर मृत्यु का दुःख महान् दुःख माना जाता है। कोई भी व्यक्ति क्यों न हो मृत्यु सभी को दुःखावह है। इस महान् दुःख और अन्य सारे दुःखों का सामना इसलिये करना पड़ता है कि दुःख का अनुभव करने वाला जन्म धारण करता है। यदि जन्म न होता तो न संसार के दुःख सताते और न मृत्यु का ही भय होता। इसलिये जन्म एक प्रधान कारण है। जन्म भी स्वयं तो होता नहीं जब तक कि कोई अपना हेतु न पावे। जन्म का हेतु संसार के दृश्यों के प्रति द्रष्टा की प्रवृत्ति है। प्रवृत्ति का तात्पर्य व्यापार से है।

हमारे मन, शरीर आदि इन्द्रियों से जो २ व्यापार होते हैं वे प्रवृत्ति हैं। प्रत्येक इन्द्रिय अपनी अपनी प्रवृत्ति रखते हैं। प्रवृत्ति का वास्तविक विवेचन बाद में होगा परन्तु यहां पर इतना ही समझना चाहिए कि प्रवृत्ति जन्म का कारण है। किसी दृश्य में प्रवृत्ति प्रीति और द्वेष वश होती है। कहीं राग से प्रवृत्ति और कहीं द्वेष से प्रवृत्ति होती है। हम प्रति दिन स्त्री पुत्रों में अनुराग देखते हैं। यदि कोई उन पर हमला करे तो हमें मन्यु पैदा होकर हम उससे द्वेष कर उसे मारने या खुद मिटने पर तैयार होजाते हैं। इसलिये यह सुतरां सिद्ध है कि संसार में साधारणतया जितनी प्रवृत्तियें हैं वे राग एवं द्वेष से जन्य ही हैं। अतः राग और द्वेष प्रवृत्ति के कारण ठहरे। राग और द्वेष भी स्वयं सिद्ध अथवा स्वयंभू नहीं है। उन्हें भी किसी से प्रादुर्भाव मिलता है। उनके प्रादुर्भाव का कारण अज्ञान अर्थात् विपरीत ज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान है। संसार के पदार्थों में राग द्वेष होने का कारण मानव का अपना मिथ्याज्ञान ही है अन्य कुछ नहीं। एक साधारण स्थिति का गृहस्थ यह प्रश्न कर सकता है कि क्या उसका पुत्र आदि में स्नेह रागवश है और इसका कारण मिथ्याज्ञान ही है। यद्यपि व्यवहार की दृष्टि से देखने पर प्रश्न कुछ जटिल मालूम पड़ता है परन्तु विवेकी इसका समाधान यही करेगा कि हां! यह मिथ्याज्ञान जनित ही है। अपने पुत्र में राग सबको है परन्तु वही राग दूसरे के पुत्र में नहीं दिखलाई पड़ता। कभी कभी तो दूसरे के पुत्रों में लोगों को राग के अतिरिक्त द्वेष नहीं नहीं; प्रबल द्वेष भी करते देखा जाता है। जब ऐसी स्थिति है तो यह नहीं कहा जा सकता कि राग किसी का स्वभाव है। वह किसी निमित्तवश मनुष्य में है। अपने पुत्र में राग का निमित्त मनुष्य की उसके प्रति ममता है। अपने पुत्र के साथ उसका 'मेरा' लगा हुआ है जो राग का

निमित्त बन रहा है। ममता का प्रधान कारण मोह हुआ करता है। यह मोह ही अज्ञान का एक रूप है। जब यह मोह दूर होजाता है तब अपने और पराये की भावना भी समाप्त होजाती है। परिणामतः यह ही कहना उपयुक्त है कि रागद्वेष का कारण मिथ्या ज्ञान है। इस जगत् के दृश्यों को देखते हुए मानव को दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, राग, द्वेष और मिथ्याज्ञान के चक्करों में पड़ना पड़ता है। ये केवल अपना ही स्वाद देखने वाले को चखावें ऐसा नहीं बल्कि इनमें प्रत्येक एक दूसरे की प्रसवभूमि भी है। दुःख से लेकर मिथ्याज्ञान तक कहे गये इन विघ्नों के क्रम का विपर्यय कर देने पर प्रत्येक अपने से दूसरे का कारण है। मिथ्याज्ञान से राग द्वेष होते हैं; इनसे प्रवृत्ति होती है, और वह जन्म की जननी है; जन्म ही दुःख का कारण है। ऐसा कभी भी समय नहीं आता की जगत् के दृश्यों को देखते हुए व्यक्ति को ये परस्पर तैल की धार की भांति न प्राप्त होते रहें। इन का चक्र बराबर चलता रहता है। यहां कोई यदि दुःख को पहले माने तो वह बिना जन्म के संभव नहीं, यदि जन्म को पहला समझे तो वह प्रवृत्ति के बिना नहीं होसकता और प्रवृत्ति को ही पूर्व मानले तो वह भी राग द्वेष के बिना नहीं होती, रागद्वेष भी मिथ्याज्ञान के बिना नहीं पैदा होते; मिथ्याज्ञान को भी पहला नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह भी जन्म अथवा शरीर धारण के बिना नहीं होता—इस प्रकार यह चक्र अनवरत चालू है और वास्तव में यही संसार है। यह संसार इस दृश्य के रूप में कैसे पल्लवित होरहा है? इसलिए कि प्रकृति अपने तीनों गुणों के साथ इसके मूल में विद्यमान है। संसार के दृश्यमान दृश्य कब हुए? कैसे हुए? और किससे हुए? एवं वह है क्या? तथा वह क्यों हुआ? इन एक एक प्रश्नों का समाधान करने के प्रयत्न ने विविध विज्ञानों

को जन्म दिया। यदि ये दृश्य कोई साधारण दृश्य होते तो चुटकियों पर लोग पूर्वोक्त प्रश्नों का समाधान कर लेते परन्तु दृश्य इतने महान् हैं कि उनको देखने वाले भी आदिकाल से लेकर आज तक उनको समझने में आश्चर्यचकित हैं। इन्हीं दृश्यों में पृथ्वी, सूर्य, अन्य ग्रह तथा प्रकाशजगत् और शक्ति का महान् क्षेत्र भी है जिनका पूरा पूरा ज्ञान बड़ा ही कठिन है। इतना पूर्ण जगत् क्या है ? कब, कैसे और किससे हुआ– इसका उत्तर देने का प्रयत्न विज्ञान करता है। परन्तु इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए भी वह यह नहीं बतला सकता कि यह क्यों हुआ ?। कब ?, क्या ?, कैसे ? और किससे ? ये विज्ञान से समाधेय हैं परन्तु 'क्यों' ? का उत्तर देने में वह सर्वथा मूक है। इस क्यों ? का ही समाधान दर्शन-विज्ञान करता है।

कुछ भी हो, विशाल हो, अथवा लघु हो, जैसा कैसा भी हो। इतना तो निश्चित ही है कि वह दृश्य है। दृश्य सुख का भी विषय और दुःखका भी विषय होता है। दृश्य से सुख भी होता है दुःख भी। ये सुख और दुःख वेदनायें हैं जो कि दृश्य के देखने से होती हैं। इनका वेदना होना ही इस बात का ज्ञापक है कि ये अनुभूति के फल हैं। अनुभूति में सम्पर्क में आने वाली वस्तु के धर्मों की प्राप्ति, और और जानकारी दोनों ही मिश्रित रहती हैं। आग के संपर्क से जो अनुभूति होती उसमें दाहरूपी पीड़ा और आग की गर्मी का ज्ञान भी सम्मिलित है। इसी प्रकार संसार के प्रत्येक दृश्य के देखने से जो अनुभूति होती है उसमें भोग और ज्ञान दोनों मिले हुए हैं। दृश्य के देखने से दुःख और सुख वेदनायें जो प्राप्त होती हैं उनकी अनुभूति दृश्य स्वयं तो कर नहीं सकता। वह स्वयं जड़ है। वह अपना द्रष्टा आप ही नहीं हो सकता और न हो सकता है अपना ज्ञाता और भोक्ता।

दृश्य स्वयं अपना द्रष्टा, भोक्ता और ज्ञाता नहीं। जिस प्रकार कोई व्यक्ति स्वयं अपने कन्धे पर नहीं बैठ सकता, अथवा जिस प्रकार मधुर बना हुवा भोजन अपना स्वयं भोक्ता नहीं, उसी प्रकार जगत् के दृश्य भी अपने द्रष्टा स्वयं नहीं हो सकते। जड़ का भोक्ता ज्ञाता, द्रष्टा उससे कोई अन्य ही हो सकता है और वह जोकि चेतन हो। घर अपनेमें स्वयं नहीं रहता, कपड़े अपने को स्वयं नहीं पहनते दूध अपने को स्वयं नहीं पीता—उनका रहने वाला, पहनने वाला और पीने वाला उनसे भिन्न चेतन है। जड़ का यह स्वाभाविक धर्म है कि वह दूसरे के लिये होता है स्वयं अपने लिए नहीं। यही नियम समस्त विश्व के संघातों का है। प्रत्येक संघात अपने से दूसरे चेतन के लिये है। फिर दृश्य भी संघात ही हैं उनका भी कोई द्रष्टा उनसे अन्य चेतन पदार्थ होना चाहिए। यहां पर किसी के मन में यह विचारधारा भी जागरूक हो सकती है कि दृश्य का द्रष्टा कोई अलग चेतन क्यों माना जावे, प्रकृति से ही चैतन्य भी पैदा हो जाता है और वही इस दृश्य का द्रष्टा भोक्ता सब कुछ है। विचार करने पर यह बात निराधार सिद्ध होती है। क्योंकि जब प्रकृति में चैतन्य है ही नहीं तो उससे चैतन्य किसी भी अवस्था में उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि मादक पदार्थों के संमिश्रण की भांति प्रकृति के संयोज्यों से चेतन की उत्पत्ति मानी जावे, तो भी सम्भव नहीं। प्रत्येक मादक द्रव्य में मादकता विद्यमान है अतः वे मिलने पर मादकता पैदा करते हैं परन्तु प्रकृति पदर्थों में चैतन्य का अभाव है अतः वे मिलकर भी चैतन्य नहीं उत्पन्न कर सकते। चुम्बक और लोहे का दृष्टान्त भी प्राकृतिक तत्वों के मिश्रण से चैतन्य की उत्पत्ति में विषम है। यह ठीक है चुम्बक में आकर्षण शक्ति है वह सूची को अपनी ओर खींच लेता है। परन्तु यदि चुम्बक और सूची

के मध्य में एक बड़ा भारी मिट्टी का ढेला रख दिया जावे तो वह सूची को खींच नहीं सकेगा। उसमें यह भी शक्ति नहीं कि वह इस मध्यवर्त्ती विघ्न का निवारण करता हुआ इधर उधर किसी तरफ से किसी भाँति सूची के पास पहुँच जावे। वह इस अवस्था में सर्वथा असमर्थ है। लेकिन इसके बिल्कुल विपरीत ही दृष्टान्त चेतन में मिलेगा। चींटी एक छोटा जन्तु है, उसे न विज्ञान मालूम है और न वह कोई महान् पण्डित ही है। फिर भी गुड़ की एक डली को रखने पर वह उसके पास पहुँच जाती है। यही नहीं उस गुड़ की डली को आप एक रस्सी में बांध कर छत में लटका दीजिये। चींटी दीवालों से छत पर होती हुई रस्सी पर जावेगी और गुड़ के पास पहुँच जावेगी। ऐसे ही यदि गुड़ के पास आप तीन ओर आग जला दें, वह उसको देख कर उससे दूर होती हुई बिना आग वाले रास्ते से गुड़ के पास जा पहुँचेगी। जब कि चुम्बक सुई के पास ढेले के विघ्न का निवारण करता हुआ नहीं पहुंच सकता चींटी अपने विघ्नों को लांघती हुई अपने उद्देश्य पर पहुंच जाती है। उसमें गुड़ की प्राप्ति की इच्छा है। इच्छा में विघ्न पड़ने पर वह उससे द्वेष करती है और अपने प्रयत्न से उसका निवारण करती हुई, गुड़ तक पहुँचती है। साथ ही विघ्न के निवारण का उसमें ज्ञान भी है। चींटी में जहां इच्छा, द्वेष प्रयत्न और ज्ञान है वहां चुम्बक में एक भी नहीं। चेतन वह है जिसमें ज्ञान, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न हों। जड़ वह है जिसमें ये गुण नहीं। चींटी चेतन में ये गुण हैं और माने हुए चुम्बक चेतन में नहीं। इसलिये यदि प्रकृति में चैतन्य चुम्बक की भाँति पैदा भी हो तो वह इस चेतन के बिल्कुल विपरीत और एक प्रकार का जड़ ही होगा। वह प्राकृतिक दृश्य को चेतन की भाँति देखने की योग्यता वाला नहीं हो सकेगा। कुछ विचारको में

यह धारणा है कि चेतन को पृथक् मानने वाले के मत में भी तो दृश्य के प्रत्यक्षदर्शी वे ही प्राकृतिक पदार्थ हैं जिन्हें पहले मैंने सेन्द्रिय सृष्टि का नाम देते हुए वर्णन किया है। इस प्रकार बुद्धि, मन, चित्त अहंकार और दश इन्द्रियें ही इस दृश्य के द्रष्टा ठहरेंगे। पृथक् चेतन की आवश्यकता नहीं रह जावेगी। प्रश्न विचारणीय है और इसका भी यहाँ समाधान करना अत्यन्त आवश्यक है। हमारे शरीर में इस ऊपरी शरीर के अतिरिक्त यन्त्रमय शरीर भी हैं। जिसे ही सूक्ष्म शरीर का नाम दिया जाता है। उसमें मन, बुद्धि, अहंकार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और दश इन्द्रियाँ परिगणित हैं। ये सप्तदश तत्व ही सूक्ष्म शरीर के नाम से कहे जाते हैं शरीर में सारी क्रियायें, अनुभूति और व्यवहार इसके द्वारा ही होरहे हैं। यह भी जानना आवश्यक है कि इनमें इन्द्रियों से सूक्ष्म मन और मन से सूक्ष्म अहंकार तथा उससे भी सूक्ष्म बुद्धि है। दश इन्द्रियों में पांच कर्मेन्द्रियों का सम्बन्ध केवल कर्म विषय से है। बाह्य अनुभूति के साधक केवल पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं जो मन की सहायता से सभी बाह्य अनुभवों को प्राप्त करते हैं। मन का कार्य संकल्प विकल्प और बुद्धि का कार्य निश्चय करना है। अहं-कार अभिमान धर्म वाला है। यदि इन्द्रियों को ही चैतन्य समझकर दृश्य का द्रष्टा माना जावे तो देखना पड़ेगा कि सब मिलकर द्रष्टा हैं अथवा कोई एक वा प्रत्येक इन्द्रिय पृथक् द्रष्टा है। यदि सब मिलकर हैं तो फिर उनके कार्य में परस्पर मेल होना चाहिए परन्तु वह सम्भव नहीं। सबकी रचना ही ऐसी विचित्र है कि वे मिलकर एक नहीं हो सकतीं। एक इन्द्रिय दूसरे के विषय का अनुभव नहीं करती। आँख देखती है, कान सुनता है। परन्तु आँख न सुन सकती है न कान देख सकता है। इस प्रकार सब के अनुभव भिन्न-भिन्न

होंगे और उनका परस्पर संधान नहीं हो सकेगा। जब तक प्रत्येक का सन्धान न हो तब तक द्रष्टृत्व पूरा ही नहीं हो सकता। क्योंकि रसना इन्द्रिय ने कल एक नींबू का अचार चखा, आँखने उसे देखा था। आज वह अचार का टुकड़ा रसना के पास नहीं गया केवल आँख के सामने ही है परन्तु रसना में जलोद्रेक हो जाता है। यदि इन्द्रिय ही द्रष्टा होते तो यह व्यवस्था ठीक नहीं पड़ती। क्योंकि अचार चखा रसना ने कहा था, आँख चख तो सकती नहीं और न स्वादका उसे नियमतः ज्ञान ही हो सकता है। दोनों का अनुभव पृथक २ है। नियमतः एक दूसरा एक दूसरे का अनुभव कर नहीं सकता। ऐसी स्थिति में बिना स्वाद के अनुभव के स्मृति बन नहीं सकती क्योंकि अन्य के देखे का अन्य को स्मरण होता नहीं, माता के अनुभूत का पुत्र को स्मरण नहीं होता। फिर रसना के अनुभव का आँख, आँख को स्मृति हो नहीं सकती और न इस तरह पुनः बिना अनुभव केवल आँख के सामने अचार के आते ही रसना में विकार ही आना चाहिए परन्तु आता है। यह रसना का विकार इन इन्द्रियों से अतिरिक्त किसी चेतन का अनुमान कराता है जा प्रत्यक इन्द्रिय के अनुभव का अनुसंधान करता है और समय आने पर पुनः स्मरण करता है। यह स्मृतिधर्म उसीका है। इन्द्रियों को चेतन मानने पर उनके अनुभवों का एकत्र होना एवं अनुसंधान नहीं हो सकेगा और इस प्रकार स्मृति का अभाव हो जावेगा। एक इन्द्रियको चेतन द्रष्टा मानने पर शेष को निकम्मा मानना पड़ेगा। यदि आँख को चेतन द्रष्टा स्वीकार किया जावे तो रूप के अतिरिक्त दृश्य के अन्य विषयों का अनुभव ही नहीं हो सकेगा। यही हाल अन्य इन्द्रियों का भी है। प्रत्यक इन्द्रिय को पृथक् २ द्रष्टा मानने पर एक ही शरीर में अनेक द्रष्टा मानने पड़ेंगे और इन

में परस्पर कोई व्यवस्था नहीं रह सकेगी। इन्द्रियों को द्रष्टा मानने पर प्रत्येक दिन के शयन से उठने के उपरान्त पूर्व दिन के अनुभव का ज्ञान जाता रहेगा। जो वस्तु कल देखी गयी थी उसका आज यह वही वस्तु है, ऐसा ज्ञान नहीं हो सकेगा। मन और बुद्धि को द्रष्टा मानने पर बाह्य ज्ञान का अभाव मानना पड़ेगा। ये बिना बाह्य ज्ञान के अपना कार्य भी नहीं कर सकते। एक विचित्र बात इन इन्द्रियों और अन्तःकरण में यह है कि ये स्वयं प्रेरक नहीं प्रेरित किये जाने वाले हैं। इनकी प्रवृत्ति अपने लिये नहीं, दूसरे के लिये है। वह दूसरा जब इनके अतिरिक्त कोई है ही नहीं तो फिर इनका सारा व्यापार ही व्यर्थ और प्रयोजन हीन ठहरेगा। इन्द्रिय द्रष्टत्व-वाद में गाढ निद्रा; स्वप्न और मृत्यु आदि का अभाव मानना पड़ेगा। परन्तु ये सभी होते हैं अतः इन्द्रियां द्रष्टा नहीं। इस जगत् के दृश्य का द्रष्टा इनसे अतिरिक्त चेतन है जो इनके द्वारा अनुभव करता है. अनुभवों का अनुसंधान करता है और पुनः स्मरण करता है। यह स्मृति उसका धर्म है। क्योंकि वह ज्ञान गुण वाला है। वह जब किसी जगत् के दृश्य को देखना चाहता है तब मन को प्रेरणा देता है, मनका इन्द्रियों से सम्बन्ध होता है और विषय का अनुभव घटित होता है। किसी बाह्य विषय के प्रत्यक्ष में यह नियम है कि आत्मा मन से संयुक्त होता है, मन उस इन्द्रिय से, इन्द्रिय विषय से और फिर उस विषय का प्रत्यक्ष होता है। कई व्यक्ति यह कहकर अपना पिण्ड छुड़ाते हैं कि न है दृश्य और नहीं है उसका कोई द्रष्टा। सब कुछ शून्य है और वर्तमान में दिखलायी देने वाला सारा प्रपंच शून्य का विस्तार है। थोड़ा देरके लिये यदि यह विचार-धारा मान भी ली जावे तो बड़ा भारी उलझन सामने खड़ी हो जावेगी। जब इस धारा में ज्ञाता और ज्ञेय सभी शून्य हैं, तो

फिर शून्य का ज्ञाता कौन है ? यदि ज्ञाता है तो शून्यवाद नहीं खड़ा हो सकता और यदि ज्ञाता कोई नहीं तो सब कुछ शून्य है, यह ज्ञान कहां से आया और किसको हो रहा है। केवल विज्ञान मात्र ही सब कुछ हैं, यह कथन भी सार रहित है क्योंकि ज्ञान विना ज्ञेय वस्तु के और ज्ञाता के हो ही नहीं सकता। क्षणिकवाद में स्मृति का अभाव सदा ही बना रहेगा और उत्तर क्षण के उदय में प्रथम का विनाश हो जाने से कोई क्रम और सिलसिला ही नहीं बनेगा। जो लोग यह स्वीकार करते हैं कि जगत् का मूल केवल एक जड़ कारण है उसके अतिरिक्त अन्य पदार्थ नहीं वे और केवल चेतन को ही मूल कारण मानने वाले दोनों ही सरिता के दो उखड़ते हुए कूलों पर खड़े हैं। दोनों का ही मत परस्पर कट जाता है। जड़से यदि चेतन नहीं पैदा हो सकता तो चेतन से जड़ की उत्पत्ति भी असम्भव ही है। जगत् मिथ्या भी नहीं क्योंकि जिसका कोई सत् मूल कारण हो वह मिथ्या किसी भी प्रकार नहीं हो सकता। जगत् मिथ्या नहीं सत् है और है दृश्य, उसका देखने वाला एक चेतन तत्व उसका ज्ञाता भोक्ता उससे भिन्न है। इसे ही जीव, आत्मा, पुरुष आदि नामों से कहा जाता है।

दृश्य को देखने वाले को कभी दृश्य में अनुराग और कभी विराग भी उत्पन्न होता है। दृश्य केवल अनुरक्ति का ही विषय नहीं। ऐसा बहुधा देखा गया है कि बड़े २ विषयी पुरुष एक क्षणिक घटना से त्यागी, और विरक्त बन गये। वह भी दृश्यही था जिसने भर्तृहरि को राज-पाट छुड़ा दिया और महात्मा बुद्ध को एक दूसरे रूप में ढाल दिया। इस लिये यह कोई आवश्यक नहीं कि जगत् के दृश्य केवल भोग और राग के ही साधन हों। इन्हीं से योग और वैराग्य भी हो सकता है। जगत् के चाकचक्य को देख कर मानव उसमें अनुरक्त होता है परन्तु जब अनुरक्ति से

तृप्ति नहीं देखता तो उसकी [illegible] का विचार हृदय में जागृत होता है और उसे उससे निर्वेद प्राप्त हो जाता है। एक सुन्दर कामिनी को देख कर उससे अनुरक्ति होती है। अनुरक्तिवश उसे चन्द्रलोक से उत्पन्न मानता है। उसके अधरबिम्ब को और मुख को पूर्णचन्द्र और शरीर को लावण्य की [illegible] समझता है। परन्तु जब देखता है कि यौवन अधिक दिन तक नहीं रहता, इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, बुढ़ापा शरीर को जर्जरित कर देता है और मृत्यु उसे बहुत दिनों तक भोग का साधन नहीं रहने देता तो उसकी इस क्षणभंगुरता को देखकर विराग सहज में ही उत्पन्न हो जाता है। संसार में दौलत को दरिद्रता, यौवन को बुढ़ापा, और जीवन को मृत्यु यदि न अपहृत करते होते तो लोगों की अनुरक्ति संसार में बनी रहती परन्तु ये उसकी अनुरक्ति को विरक्ति में परिवर्तित करने के पर्याप्त साधन बन विद्यमान हैं। संसार के एक ही पदार्थ में लोगों की प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों देखी जाती हैं। जगत् के प्रत्येक दृश्य से अनुभूत होने वाले सुख की तृष्णा कभी जीर्ण नहीं होती, अन्त में मनुष्य को उससे घृणा उत्पन्न होने लगती है। वह सोचता है कि ये जगत् के सुख वास्तव में दुःखग्रस्त हैं। इन में क्षणभंगुरता विद्यमान है। इसके सुख को चिरस्थायी न देखकर चिरस्थायी सुख की दृश्य से ऊबे हुए मनुष्य को अभिलाषा उत्पन्न होती है। एक बार वह जहां दृश्य के अन्तःपट को देख लेता है फिर इसे दुःखमय ही समझने लगता है। उसकी यह वृत्ति उसे वैराग्य एवं विरक्ति की ओर प्रेरित करती है। योग और भोग दोनों ही वास्तव में इस दृश्य दर्शन में ही होता है। द्रष्टा जब इस शरीर दुर्ग में बैठा हुआ इन्द्रिय द्वारों से इस दृश्य को देखता है तब उसे भोग की प्राप्ति होती है परन्तु जब वह इन द्वारों की अपेक्षा को छोड़ देता है और

अपने अन्दर ही देखता है तो योग की प्राप्ति होती है। भोग में दृश्य इन्द्रियरूपी चश्मों द्वारा देखा जाता है, योग में इन चश्मों के उतर जाने से केवल दृश्य का शुद्ध ज्ञान ही सामने आता है। उस अवस्था में भोग की प्राप्ति नहीं होती और वह दृश्य का विशुद्ध ज्ञान इससे छुड़ाने का साधन बनता है। इस प्रकार विवेचन से अन्ततोगत्वा दृश्य भोग और मोक्ष दोनों का साधन ठहरता है। जगत् का उद्देश्य केवल भोग नहीं बल्कि मोक्ष भी है। द्रष्टा इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति के लिये जगत् में प्रवृत्त होता है। यह है जगत् और उसके द्रष्टा का स्वरूप तथा उससे सम्बन्ध और उद्देश्य। इसको जान कर ही कर्म-मीमांसा के कार्य में पग उठाया जा सकता है अन्यथा नहीं।

द्रष्टा जब जगत् को देखने को प्रवृत्त होता है तो वह अपने इंद्रियों और शरीर के द्वारा ही उसे देखता है। उसके इस शरीर की रचना जैसा पहले कहा जा चुका है, इन्द्रिय और अन्तःकरण रूपी साधनों से सम्पन्न है। उसका यह शरीर चेष्टा और इन्द्रिय का आधार है। यह शरीर कभी निश्चेष्ट और बिना इन्द्रिय के नहीं रह सकता है। कितना भी प्रयत्न किया जावे उससे दूर रहने का परन्तु शरीर में चेष्टा अवश्य ही रहेगी। क्षण मात्र भी कोई शरीर निश्चेष्ट नहीं रह सकता जब तक इन्द्रियाँ उसमें अपना कार्य कर रही हैं। क्योंकि यह उसका अपना स्वाभाविक धर्म ही है। जगत् के द्रष्टा इस जीव के शरीर में जो इन्द्रियां हैं, उनका दो विभाग पूर्व किया जा चुका है। एक विभाग कर्मेन्द्रियों का है, और दूसरा ज्ञानेन्द्रिय का। पांच ज्ञान के साधन भूत पांच ज्ञानेन्द्रियें हैं और पांच ही कर्मेन्द्रियें हैं जिनसे कर्म अथवा चेष्टा का प्रारंभ होता है! जब इन्द्रियों का व्यापार शरीर में प्रारंभ हो जाता है तो उन्हीं से प्राणों की स्थिति होती है। ये प्राण इन्द्रियों के व्यापार हैं। ये संख्या में दश हैं और इनका शरीर में महान् कार्य है। प्राण,

अपान, उदान, व्यान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय ये उनके दश अभिधान हैं। प्राण हृदय देश में रहता है और अपान का स्थान गुदा है। समान की स्थिति नाभि मण्डल में और उदान कण्ठ देश में रहता है। व्यान सर्व शरीर में निवास करता है। अन्य प्राण भी शरीर में यथा—देश स्थान ग्रहण करते हैं। इन प्राणों का शरीर में कार्य बहुत ही आश्चर्यमय है। यहां तक कि निद्रावस्था में जब इन्द्रियों का बाह्य व्यवहार बन्द रहता है और स्वप्न एवं गाढ़ निद्रा की अवस्था होती है तब भी प्राण अपना कार्य करते रहते हैं। शरीर में प्राण का कार्य श्वास को बाहर निकालना और अपान का कार्य श्वास को भीतर ग्रहण करना है। समान नाभिस्थ शरीर में रस पहुँचाता है। उदान की क्रिया कण्ठदेश में पहुँचे हुए अन्न पान को भीतर पहुँचा देना है। व्यान चूंकि शरीर व्यापी है, अतः वह समस्त शरीर में रक्त संचार करता है। नाग का कार्य वमन द्वारा क्रय और साधारणतया मल का बाहर निकालना होता है। आंख की पलकों में जो निमेषोन्मेष का कार्य होता है वह कूर्म प्राण किया करता है। भोजन पान की इच्छा कृकल की क्रिया के परिणामस्वरूप है। जम्हाई लेने में देवदत्त प्राण कार्य करता है और उसी से यह क्रिया हमारे शरीर में घटित होती है। मूर्च्छा, बेसुध होना, खुर्राटा लेना आदि कार्य धनंजय प्राण का है। इस तरह शरीर में बराबर चेष्टायें होती रहती हैं। शरीर में अन्य भी क्रियायें होती रहती हैं जो आत्मा की प्रेरणा से समय पर घटित होती हैं। प्राणों के कार्य यद्यपि शरीर में आत्मा के रहने पर होते हैं उससे विहीन निर्जीव शरीर में नहीं फिर भी इन कार्यों के लिए साधारणतया उसकी इच्छामयी प्रेरणा हेतु नहीं बनती। हां, किन्हीं विशेष परिस्थितियों को छोड़कर। प्राणों के कार्य

अनवरत एक स्वयंचलद् यंत्र की भांति होते रहते हैं। परन्तु जब आत्मा किसी कार्य के लिये इच्छा करती हुई प्रेरणा देती है तो उस समय जो क्रिया या चेष्टा शरीर में होती है उसका अपना दूसरा स्वरूप है। कल्पना कीजिये कि आत्मा को बोलने की इच्छा हुई। वह बुद्धि से निश्चय कर मन को प्रेरणा देगा। इस शरीर में स्थित अग्नि पर प्रभाव होकर वह अपना कार्य प्रारंभ करेगी। उस अग्नि के प्रभाव से प्राण नाभि देश से ऊपर को उठेगा। जब वह कण्ठ से लगेगा कवर्गवाले शब्दों का उच्चारण होगा। यदि वह ओष्ठ से लगा तो पवर्ग वाले पदों का उच्चारण होता है। मुख के अन्य भागों में लगाने से अन्य-वर्णात्मक पदों के उच्चारण होंगे। यह क्रम उन चेष्टाओं का है जो इच्छापूर्वक होती हैं। जो चेष्टायें बिना इच्छा स्वयं घटित होती रहती हैं उनमें यह क्रम नहीं देखा जाता। इच्छापूर्वक क्रियायें बाह्य परिणाम पैदा करती हैं परन्तु अनिच्छापूर्वक क्रियायें बाह्य परिणामों से रहित हैं, और केवल शरीर की रक्षा में ही उनका उपयोग है। ये दोनों प्रकार की चेष्टायें शरीर में होती हैं। जैसा पूर्व कहा गया है शरीर सदा सचेष्ट ही रहता है—निश्चेष्ट कभी नहीं होता। उसकी इस चेष्टा के पूर्व वर्णनानुसार दो भाग हो जाते हैं—इच्छा-पूर्वक चेष्टा और अनिच्छापूर्वक चेष्टा। हमने कोई ऐसी वस्तु खायी जो हमें अच्छी नहीं लगती गले में जाते ही शरीर में हलचल हो गयी। मन मचलने लगा और नागप्राण ने वमन द्वारा उसे बाहर निकाल दिया। इस सारी क्रिया में आत्मा की इच्छा कोई प्रत्यक्ष कारण नहीं बनी। परन्तु हमें आम खाने की इच्छा हुई। आत्मा ने इच्छा कर मन को प्रेरित किया मन ने हाथ को प्रेरणा दी। हाथ ने आम उठाया और मुंह के साथ दिया। मुंह ने इसे चूसना प्रारंभ किया। इसमें इच्छा प्रत्यक्ष कारण है। इस प्रकार शरीर की समस्त चेष्टाओं के दो रूप हैं। जो चेष्टा इच्छापूर्वक होती है, उसी

में कर्म, अकर्म, उचित अनुचित और हेय उपादेय का विचार हो सकता है। जो अनिच्छापूर्वक है उस में इन सब बातों का कोई विचार नहीं। निष्कर्षतः संसार दृश्य है। उस दृश्य का द्रष्टा आत्मा है। दृश्य का उद्देश्य उस आत्मा का भोग और अपवर्ग सिद्ध करना है। इसी उद्देश्य से आत्मा इस दृश्य के देखने में प्रवृत्त होती है। उसका अपना मोक्ष ही प्रधान उद्देश्य है, भोग गौण और उस प्रधान उद्देश्य के साधन रूप से है। दृश्य को देखती हुई आत्मा शरीरेन्द्रिय आदि साधनों से जो प्रवृत्ति करती है वह शरीर की चेष्टा रूप में व्यक्त होती है। यह चेष्टा दो प्रकार की हैं इच्छापूर्वक और निरिच्छापूर्वक। इच्छापूर्वक चेष्टा को ही कर्म रूप से व्यवहृत किया जाता है। अनिच्छापूर्वक होने वाली चेष्टाओं को भी कभी कभी कर्म रूप में व्यवहार करते हैं परन्तु वह केवल क्रिया और केवल चेष्टा के अर्थ में ही। कर्म-मीमांसा का सम्बन्ध केवल इच्छापूर्वक घटने वाली चेष्टाओं से है और उसी की विशद् व्याख्या अगले प्रकरणों में की जावेगी। अनिच्छापूर्वक होने वाली चेष्टायें शरीर के रक्षार्थ हैं। उनका कर्ममीमांसा से कोई सम्बन्ध नहीं। वे शरीर को स्थिर रखने से शरीर को स्वस्थ रखने वाले आयुर्वेद शास्त्र के विषय हैं। इच्छापूर्वक चेष्टायें—अपने हेतु और परिणामों के कारण तीन प्रकार से कही जाती हैं। यद्यपि सारी चेष्टाओं में शरीर आधार रहता ही है परन्तु फिर भी विशेष लक्षणों के कारण इनके ये तीन वर्ग किये गये हैं। ये हैं—शारीरिक, वाचिक और मानसिक। इन चेष्टाओं में बुरे भले का, फलाफल का, लाभालाभ का, तथा उद्देशनुद्देश्य का प्रश्न उठता है। मानव समाज में बराबर उसका विचार होता रहा और जब तक संसार है बराबर होता भी रहेगा। इन्हीं बातों का विशेष विचार आगे किया जावेगा।

द्वितीय सोपान

कर्म में नीति-अनीति का विचार

पूर्व यह कहा जा चुका है कि चेष्टा अथवा कर्म दो प्रकार का है। इच्छा पूर्वक किया हुआ और अनिच्छापूर्वक किया हुआ। इच्छापूर्वक होने वाले कर्म में ही कर्म-मीमांसा का प्रश्न उठता है, अनिच्छा पूर्वक किये गये कर्म में नहीं। नीति अनीति अर्थात् कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार तो सर्वथा इच्छापूर्विका चेष्टा से ही सम्बन्ध रखता ही है। कर्म में नीति क्या है? इस पर थोड़ा सा विचार अपेक्षित है। कर्त्तव्य शब्द का व्यवहार किये जाने वाले कर्म के लिये प्रयुक्त होता था। विशदरूपमें कर्त्तव्य कर्म के लिये धर्म और अकरणीय के लिये अधर्म का व्यवहार बहुधा देखा जाता है। धर्म क्या है और अधर्म क्या है? इस विषय का विवेचन एक स्वतंत्र दर्शन ही है। नीति शब्द संस्कृत का है। इसका प्रयोग संस्कृत-साहित्य में राजनीति के अर्थ में प्रचलित था। कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेचन संस्कृत में धर्मशास्त्र के नाम से गृहीत था। आज भी नीति का अर्थ साधारण व्यक्ति राजनीति लेते हैं। जब कोई यह व्यवहार करता है कि अमुक व्यक्ति तो नीति चलता है तो उसका अभिप्राय राजनीति अथवा चालबाज़ी से ही रहता है। परन्तु विज्ञजन नीति शब्द में ही कर्तव्य और सदाचार अथवा कर्तव्य विचार का समावेश मानते हैं। इस लिये वर्तमान समय में दार्शनिक दृष्टि से कर्तव्य,

सदाचार, धर्म आदि के लिये नीति का ही व्यवहार किया जाता है। यहां पर भी नीति से ही अर्थ अभिप्रेत है। नीति के विषय में ऊहापोह करते हुये विचारक का ध्यान नीति-मीमांसादर्शन की ओर स्वभावतः आकृष्ट होता है। इस विज्ञान का मनोविज्ञान और अध्यात्म विज्ञान से सम्बन्ध माना जाता है। आजकल कुछ विचारक इसे स्वतंत्र कहने का साहस करने लगे हैं। नीति-मीमांसा-दर्शन का सम्बन्ध वास्तव में यदि देखा जावे तो मानव के नैतिक व्यवहार और कर्तव्य से है। इसका प्रधान कार्य मानव की कृतज्ञता, परिस्थिति, सहज सामर्थ्य तथा प्रतिबन्धों के अनुसार तथ्य और अतथ्य का निर्णय करना है। यह सच्चरित्रता के विषय को प्रकाश में लाता है। हम सभी भला, बुरा, सही और ग़लत आदि शब्दों का व्यवहार करते हैं। परन्तु इनका वास्तविक अर्थ क्या है और जब हम इनका उच्चारण करते हैं तो उससे क्या अभिप्रेत है, इनका विचार इस शास्त्र का आवश्यक अङ्ग है। यह भला और सत्य के सभी अङ्गों पर प्रकाश डालता है। कर्तव्य-मीमांसा-दर्शन के विचार्य विषय संक्षेप में तीन वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं। प्रथम विभाग इस धारणा से संबन्ध रखता है कि वस्तुतः भला, बुरा और उचित, अनुचित तथा सही और ग़लत क्या है? इनका वास्तविक स्वभाव क्या है। जब लोग किसी वस्तु एवं कर्म को सत्य अथवा मिथ्या, ग़लत अथवा सही, भली अथवा बुरी कहते हैं तो उसका क्या प्रयोजन रहता है—इत्यादि। दूसरा विभाग यह बतलाता है कि यह मान लिया जावे कि सत्य असत्य, कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय हो भी जावे परन्तु वह निर्णय हमारे विचार में किस प्रकार आता है और हम अपने विचारशक्ति के किस भाग से उसका समुचित निर्णय कर लेते हैं। वह-निर्णय क्या है?

जिसको हम निश्चित नैतिक निर्णय कह सकते हैं। तीसरा वर्ग नीति-मीमांसा का है नीतिनिर्णय के साधन अथवा मानदण्ड एवं स्तर का निर्धारण करना। हमें मान लिया कि यह भी पता चल जावे कि अमुक कर्म उचित या अनुचित है परन्तु उसके औचित्य अनौचित्य का निर्णय किस मानदण्ड से होता है, ऐसे कुछ आधारभूत सिद्धान्तों अथवा साधनों का निर्धारण करना आवश्यक है। बिना कोई ऐसा आधारस्तम्भ बनाये हुए हम कैसे कह सकते हैं कि यह कर्म उचित अथवा यह कर्म अनुचित है। नीति-मीमांसा-दर्शन का कर्म ऐसे निर्देशक सिद्धांतों, जिनसे सत्यासत्य भले बुरे का निर्णय हो, निर्धारण करना भी है। क्योंकि वह नीति विषय के सिद्धांतों के स्थापन का विज्ञान है। जहां तक साधारण चेष्टाओं का संबन्ध है कोई सिद्धांत निर्धारण की आवश्यकता ही नहीं। परन्तु जिन चेष्टाओं के साथ "चाहिये" अथवा "नहीं चाहिये" का सम्बन्ध है वहां पर सिद्धांत निर्धारण परमावश्यक है कर्तव्य-विज्ञान को वास्तव में यदि देखा जावे तो "चाहिये" का विज्ञान है। इस चाहिये के ही अर्थ को संस्कृत के 'तव्य' और "अनीयर" प्रत्यय व्यक्त करते हैं। अंग्रेज़ी का Ought, due आदि भी इसी भाव का व्यक्तीकरण करते हैं। "चाहिये" देखने में बहुत साधारण है परन्तु अर्थ और भाव की दृष्टि से बहुत ही व्यापक है। इसमें, बाध्य होना, ठीक, न्याय्य, उचित, समर्थ होने, और संभाव्य होने के भाव छिपे हुए है। जब किसी कर्म के साथ "चाहिए" लग जाता है तो उससे यह भाव निकलता है कि इस कर्म के करने में व्यक्ति बाध्य है। जहां तक कर्म का सम्बन्ध है वह ठीक, न्यायसंगत, औचित्यपूर्ण है। साथ ही साथ करने की बाध्यता होने पर भी वह करने वाले की सामर्थ्य के बाहर नहीं तथा वह करने में संभव है। आंग्लभाषा

में Ought के अन्दर भी कुछ यही भाव है। उसका due पद जिससे duty बनता है भी बहुत व्यापक है। किसी action के साथ Ought के प्रयोग में उसके right, due, obliged to, और just होने का भाव पाया जाता है। इन्हीं का प्रायः कर्तव्याकर्त्तव्य निर्णय करते समय विचार भी किया जाता है। इन्हीं के सांगोपाङ्ग विचार का नाम कर्तव्य-विचार-विज्ञान भी है। इस "चाहिये" को किस प्रकार निर्णीत किया जावे और "नहीं चाहिये" को कैसे पृथक् किया जावे इसके विचार में विविध दृष्टियें बन जाती हैं। विचारक के दृष्टिभेद से विचार में भी भेद आजाते हैं। यह सर्वसाधारण को ज्ञात है कि वही कार्य करना चाहिए जो भला हो। परन्तु जब किसी विज्ञ से विज्ञ व्यक्ति को यह कह दिया जावे कि जीवन के प्रत्येक क्षण में प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक समाज के कार्यों में वह सोचकर 'चाहिए' और 'नहीं चाहिए' लगा देवे तो उसके सामने एक विकट समस्या उत्पन्न हो जाती है। वह हर अंचलों पर अपनी विचारधारा को दौड़ाता है, समाधान सोचता है, फिर भी सन्देह में पड़जाता है कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। यही कारण है कि अनेक समयों में अनेक व्यक्तियों को कर्तव्याकर्त्तव्य के विषय में व्यामोह पैदा हुआ। भारत में गीता और योरूप में शेक्सपियरकृत हैमलेट और 'कोरियोलेसस' नाटक इसी के उदाहरण हैं। 'चाहिये' की सूक्ष्मभूत तत्व वस्तु का विचार सभी जातियों में पाया जाता है। यद्यपि जो बात एक जाति में नीति की दृष्टि से चालू है वही दूसरी में निषिद्ध है, फिर भी किन्हीं मूल-सिद्धांतों में ऐक्य भी है। मानवजीवन के आदिम काल से इसका विचार होता आया है। और होता भी रहेगा। मानवजीवन में किसी विषय की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। इन्द्रियों का व्यापार सांसरिक विषयों में बेखटके

होता रहता है। उनके व्यापार खावो पियो और मौज उड़ावो के विषय में बराबर चालू रहते हैं परन्तु यह खावो पियो की सारी प्रवृत्ति निर्बाध चलने लगे तो संसार में कोई व्यवस्था ही नहीं रहजावे। इन्द्रियों की व्यापार में उद्दामता समाज में अनर्गल होकर बहुत दिनों तक चलती नहीं। यदि चले तो समाज दुःख के गड्ढे में गिरकर छिन्नभिन्न होजावे। इस लिए समाजधारण और आत्मनियंत्रण, जो कि समाज का आवश्यक तत्व है, के लिये इन्द्रियों के व्यापार पर प्रतिबंध लगाने की आवश्यकता है। इन्द्रियव्यापार की उद्दामता पर चाहिये और 'न चाहिये' का यह प्रतिबन्ध ही सदाचार-विज्ञान और कर्त्तव्याकर्त्तव्यविज्ञान अथवा नीतिविज्ञान का बीज है। प्राणियों की भोगात्मक प्रवृत्तियें स्वभाविक अपने आप प्रवाहित होती रहती हैं परन्तु उन का नियंत्रण ही महान् लाभकारी है। यह प्रवृत्तियों का नियंत्रण ही नीति का निर्धारण है।

ये प्रवृत्तियें किस आधार पर नियंत्रित की जावें और इन इन्द्रियों के प्रत्येक कर्म को किस प्रकार विचार कर, यह करने योग्य है या त्यागने योग्य है, का निर्णय करना चाहिये आदि के विषय में एक साधारण विचार सांसारिक और व्यावहारिक दृष्टिकोण को लेकर सुखवाद का है। इस विचारधारा का यह सुझाव है कि जिसके करने में सुख हो वह करना चाहिये अन्य नहीं। परन्तु यह सुख अपना अथवा दूसरे का देखकर कर्तव्य का निर्णय किया जावे—यहाँ पर विचार में दो धारायें होजाती हैं। एक पक्ष यह कहता है कि अपना सुख जिसमें हो वही कर्म करना चाहिए और दूसरे इस दिशा में आगे बढ़े हुए अनुभवी जन कहते हैं कि जिस कर्म के करने में दूसरों का सुख हो वह करना चाहिए। यदि अपने सुख का विचार

करना है तो दूसरे के सुख को भी उसी तरह सोचकर कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार करना चाहिए। कर्तव्याकर्त्तव्य के निर्णय में वस्तुतः यह सुख क्या है? इसने भी बड़ा झगड़ा किया। पाश्चात्य विद्वानों में तो सारा झगड़ा इसी पर आधारित है। कर्त्तव्यमीमांसाशास्त्र के विषय में यह विविध धारायें खड़ी ही नहीं हो सकतीं थीं यदि अंग्रेज़ी का बहर्थक और लचकदार "good" शब्द इस भाषा के कोष में न होता। इस good के अनेकार्थ हैं अतः लोगों ने अपनी तरफ इसे खींच कर अपने ढंग में कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निर्णय का इसे आधार बनाया। क्या कर्म करना चाहिये? क्या नहीं? इसका उत्तर दिया जाता है कि जिससे अपना और जनता का भला 'good' हो। इस पद का तात्पर्य सुख है यह अर्थ लेकर एक विचारधारा बनायी गयी कि जिसमें अपना सुख अथवा स्वार्थ हो वह कर्म करना चाहिए अन्य नहीं। इस धारा ने यह विचार जनता को दिया कि मनुष्य स्वाभवतः स्वार्थी है। स्वार्थ के बिना वह कुछ भी नहीं करता। स्वार्थ ही उसका उद्देश्य है और उसी की सिद्धि के लिये सब कुछ करता है। यह स्वार्थ उसका अपना सुख है और यही उसके नीति अनीति निर्धारण का मानदण्ड है। दूसरी विचारधारा ने भला (good) का अर्थ परोपकार अर्थात् दूसरों का सुख अर्थ लिया और बतलाया कि हमारे प्रत्येक कर्म का मानदण्ड स्वोपकार के साथ परोपकार होना चाहिए। मनुष्य स्वभावतः स्वार्थी नहीं परोपकार वृत्ति वाला है। तीसरी विचारधारा ने पूर्वोक्त पद की संगति इस प्रकार लगायी कि भला वह है जो उचित और न्याय (Right) हो। मनुष्य स्वभावतः विचारवान् प्राणी है अतः उसका कार्य यौक्तिक और बुद्धिसंगत होना चाहिए। यह बात उचित और न्याय विचार में ही चरितार्थ हो सकती है और

वही भला कहा जा सकता है। इसके मानने वाले कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को वही कर्म करना ठीक है जो यौक्तिक (Reasonable) सत्य और न्याय (Right) और समुचित (like) हो। ये सब भावों को मानवता में सन्निविष्ट कर उसे ही मानदण्ड मानते हैं अर्थात् जो कर्म मनुष्योचित हो वही करना चाहिए इतर नहीं। अन्य विचारक यह मानते हैं कि (भला) का निर्णय केवल उपकरणों से ही नहीं होता है। भला स्वयं भला ही है। उसका भलापन उसी के अन्दर है। इस लिये प्रत्येक अच्छे कर्म स्वयं अपने स्वभाव से ही भले हैं। भला वही होता है जो अनिवार्य और स्वयं उचित हो। मनुष्य को कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार केवल सुख आदि पर ही नहीं करना चाहिए बल्कि प्रत्येक बुद्धियुक्त कर्म "धर्म" (duty) है ऐसा समझ कर करना चाहिए। कर्त्तव्याकर्त्तव्य के लिये वह अपने में ही उद्दिष्ट और चरितार्थ अर्थात् Duty-an-end-in-itself है। इसके अतिरिक्त एक विचारसरणी आध्यात्मिक दृष्टि वालों की है, जो इन सभी का समन्वय कर के इस लोक और परलोक सम्बन्धी मानवजीवन के उद्देश्यों को ध्यान में रखकर कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय का स्तर निर्धारित करती है। इसकी घोषणा यह है कि संसार में केवल अपना स्वार्थ ही सिद्ध होसके यह असंभव है और सुख अपना ही हो यह किसी सीमातक संभव होते हुए ऐकान्तिक अत्यन्त सुख भी अनुभव के विपरीत बात है। परोपकार और निष्कामभाव से कर्तव्य का पालन तथा मानवता ये सब मानवता में ही आजाते हैं। मानवता का लक्ष्य यही संसार नहीं आगे का जीवन भी है। अतः उसके उद्देश्य की पूरी छान बीन करके नीति का निर्णय होना चाहिए। नीति का दार्शनिक स्तर पर निर्णय करते हुए विपश्चितों की साधारणतः तीन दृष्टियें हैं।

ये ही सभी दार्शनिक वादों और विज्ञानों के विषय में वर्ती जाती हैं। ये दृष्टियें जगत् अथवा किसी वस्तु को देखने में जो दृष्टिभेद होता है उन पर आधारित हैं। पहिली दृष्टि तो यह है कि इस जड़ जगत् के समस्त पदार्थ ठीक वैसे ही हैं जैसे कि वे हमें प्रत्यक्षत: दिखलायी पड़ते हैं। इससे अतिरिक्त और कोई वस्तु इसके परे उनमें नहीं है। जब हम सूर्य को देखते हैं तो उसे पांच भौतिक तत्वों का गोला मानते हैं और ऊष्णता, प्रकाश, गुरुत्व, दूरी और आकर्षण आदि गुणधर्मों की ही परीक्षा साधारणतया करते हैं। पानी और हवा को देखकर उसके गुणों पर ही विचार करते हैं। यह बाहरी विवेचन केवल आधिभौतिक विवेचन कहा जाता है। विज्ञान-संबन्धी क्षेत्र में रसायनशास्त्र, पदार्थविज्ञानशास्त्र और विद्युद्विद्या आदि विज्ञानों का विचार इसी प्रकिया से होता है। उक्त दृष्टिको छोड़कर जब यह विचार किया जाता है कि जड़ जगत् के मूल में क्या है? इनका व्यवहार केवल इनके गुण धर्मों पर ही आधारित है अथवा इनको किसी तत्व का आधार भी है तो आधिभौतिक प्रक्रिया से कुछ आगे बढ़ना पड़ता है क्योंकि उससे फिर यह कार्य नहीं चलता। इस दृष्टि के अनुसार लोग जब सूर्य पर विचार करते हैं तो यह कहते हैं कि यह भौतिक पिण्ड एक सूर्य नामी देव का अधिष्ठान है। इसी देव के कारण इस चैतन्य—शून्य गोले के सारे व्यापार-कलाप होते रहते हैं। प्रकारान्तर से यों कहना चाहिए कि जब एक अत्यन्त साधारण व्यक्ति जो बज्र देहात का रहने वाला है और गाड़ी के इञ्जन को भली प्रकार समझता नहीं, उसे देखकर यह मानता है कि काली माई इस इञ्जन को चला रही है। वह यह नहीं समझता कि यह कार्य भाप का है। इसी प्रकार इस दृष्टिवाले लोग पानी हवा, पेड़ आदि सभी पदार्थों में देव की

कल्पना करते हैं। इनके अनुसार ये देव ही इन पदार्थों के व्यापार को चलाते हैं। किसी वस्तु पर बुद्धि को व्यायाम से बचाने का यह मार्ग एक अत्यन्त सरल साधन है। यदि जल को दो वायव्यों और विद्युत् के संमिश्रण का परिणाम बतलाया जावे तो अत्यन्त साधारण जन यह समझने का कष्ट नहीं करने, परन्तु जल में एक देवता है, यदि ऐसा कहा जावे तो उनकी बुद्धि में झटिति आजाता है। यह दृष्टि आधिदैविक कही जाती है। लेकिन जड़ सृष्टि के सहस्रों जड़ पदार्थों में हज़ारों स्वतंत्र देवता न मान कर, मानव शरीर में रहने वाले चेतन जीवों के अतिरिक्त एक महती सर्वशक्तिशालिनी चित् शक्ति है, जो समस्त बाह्य-सृष्टि का संचालन करती है और स्वयं इन्द्रियातीत है, उसके विना संसार का कोई कार्य नहीं चलता; ऐसा माना जाता है तो इसे आध्यात्मिक दृष्टि कहते हैं। ये तीनों पद्धतियें विद्वानों द्वारा किसी भी दार्शनिक विचार के निर्णय में वर्ती जाती हैं। भारतीयों ने इनका अन्वेषण बहुत पहले किया था। योरप में इनके आविष्कार का श्रेय आगस्ट कमटे को है। कमटे के विचारानुसार मानवी ज्ञान के विकास की चाहे वह किसी विषय का हो, प्रथम सीढ़ी आधिदैविक विचार पद्धति है और दूसरी सीढ़ी आध्यात्मिक है। सबसे परिमार्जित और उपयोगी तीसरी सीढ़ी है जो आधिभौतिक है। इसका यह विचार क्यों है ? इसलिये कि वह विकास के सिद्धान्त का हामी है। भारतीय परम्परा का उससे यही मतभेद है कि यह प्रथम सीढ़ी को भौतिक, दूसरी को आधिदैविक और तीसरी अन्तिम को आध्यात्मिक क्रम देती है। इसके अनुसार तीनों का ही समन्वय परमावश्यक है। इन्हीं दृष्टियों से यहाँ पर थोड़ासा विचार नीति-तत्व पर किया जाता है। पहला विचार आधिभौतिक सुखवादियों का है। वे कहते हैं कि आधिभौतिक

दृष्टिसे केवल सांसारिक युक्तिवाद को लेकर कर्म-अकर्म शास्त्र का निर्णय किया जा सकता है। इसके विवेचन के लिये अध्यात्मशास्त्र की कोई आवश्यकता नहीं और न कोई ज़रूरत है पारलौकिक विषयों पर आस्था रखने की। किसी कर्म के भले या बुरे होने का निर्णय उस कर्म के बाह्य परिणामों से, जो प्रत्यक्षीभूत है किया जाना चाहिए। मनुष्य संसार में जो कर्म करता है सुख के लिये करता है अथवा करता है दुःख के निवारणार्थ। मनुष्य जीवन का परमोद्देश्य सब मनुष्यों का ऐहिक सुख ही है। जब कि सब कर्मों का अन्तिम दृश्य फल इस प्रकार निश्चित है तो फिर नीति-निर्णय का भी सच्चा मार्ग यहीं होना चाहिए। लोक में भद्दी शकल की भी होती हुई यदि गाय अधिक दूध देती है तो उसे ही लोग अच्छी गाय समझते हैं। इसी प्रकार जिस कर्म के करने में सुखोपलब्धि और दुःख प्रतीकार अधिक हो उसी को नीति के विचार से श्रेष्ठ और करणीय समझना चाहिए। इस प्रकार बाह्य सुखवाद और कर्मों के बाह्यपरिणाम के सिद्धान्त को मानने में मतैक्य होते हुए भी इस विषय में मतभेद है कि जिस आधिभौतिक सुख के आधार से नैतिक कर्म अकर्म का निर्णय किया जाता है, वह किसका है? स्वयं अपना है या दूसरे का, एक व्यक्ति का है अथवा अनेक व्यक्तियों का। संक्षेप में सब विचारों का वर्गीकरण तीन में ही किया जा सकता है। पहले वर्ग का कथन यह है कि स्वार्थ ही अपना परम उद्देश्य है। परोपकार और परलोक आदि विडम्बनामात्र हैं। अध्यात्म का प्रचार और तत्सम्बन्धी शास्त्रों की रचना धूर्त लोगों ने अपने उदरदरी को ठगी से भरने के लिये की है। इस दुनियाँ में वस्तुतः स्वार्थ ही सत्य है और जिस उपाय से स्वार्थसिद्धि होसके अथवा जिसके द्वारा अपने सांसारिक सुख में वृद्धि

हो, उसी को न्याय्य, प्रशस्त और श्रेयस्कर कहना चाहिए। यह विचार चार्वाकमत से मिलता है। चार्वाक का विचार भी ऐसा ही था। इसके अनुसार शरीर भस्मीभूत होने वाला है। आत्मा इसके अतिरिक्त कोई पृथक् तत्व नहीं, वह भी शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता है। इस लोक के अतिरिक्त परलोक अथवा दूसरा जन्म आदि कुछ नहीं। जबतक यह शरीर स्थित है तबतक ऋण लेकर भी आनन्द मनाना चाहिए क्योंकि मरने पर कुछ नहीं। यह प्रथम श्रेणी का विचार गर्हित और जघन्य कोटि में माना जाता है तथा इसे कर्तव्य-निर्णय में अत्यन्त त्याज्य गिना जाता है। यह निकृष्टस्वार्थ का मार्ग है।

चूंकि खुले तौर पर प्रकट स्वार्थ संसार में बहुत काल तक चल नहीं सकता, इसलिये उसे सिद्ध करने के लिये कुछ उपाय करना पड़ता है। यह अनुभव सिद्ध बात है कि बाह्य-सुख प्रत्येक को इष्ट होता है तो भी जब हमारा सुख अन्यों के सुखोपलब्धि में बाधक होता है तब वे लोग हमारे इस सुख में भी बिना विघ्न उपस्थित किये नहीं रहते। इसलिए ऐसी परिस्थिति में कई अधिभूतविदों का कथन है कि यद्यपि बहुधा अपना स्वार्थ साधन ही सर्वदा उद्देश्य है फिर भी सब लोगों को अपने समान ही सहूलियत देनी पड़ती है। विना ऐसा किये सुख मिलना संभव नहीं। इसलिये अपने सुख के लिये ही दूरदर्शिता से अन्य लोगों के सुख का भी ध्यान रखना चाहिए। यह आधिभौतिक सुखवादियों का दूसरा वर्ग है। ये लोग पूर्व वर्ग की भाँति यह नहीं कहते कि अपना स्वार्थ ही केवल नीति निर्धारण का स्तर है बल्कि थोड़ासा दूसरे का भी स्वार्थ देखते हैं और वह भी इसलिये कि विना ऐसा किये अपना स्वार्थ सिद्ध नहीं हो सकता। हैं ये भी कट्टर

बाह्यसुखवादी परन्तु थोड़ी दूरदर्शिता से कार्य लेने वाले। जहाँ पूर्व वर्ग की दृष्टि में अहिंसा का मानना कुछ अर्थ नहीं रखता है वहाँ इनकी दृष्टि में उससे यह तात्पर्य प्रकट होता है-कि यदि मैं किसी को मारूँगा तो वे भी मुझे मारेंगे और मुझे परिणामतः अपने सुखों से हाथ धोना पड़ेगा, अतः यही ठीक है कि अपने स्वार्थ की दृष्टि से अहिंसा का किसी सीमा तक पालन करना ही चाहिए। कहीं भविष्य में हमारे लिये भी दुःख न पैदा हो जावे, इस लिए ये लोग दूसरे को दुःख देना उचित नहीं समझते। हमें दुःख हुआ तो हम रोते हैं। दूसरे को हुआ तो हमें दया आती है। यह इसलिये नहीं कि वह दुःखी है बल्कि इसलिये कि हमारे मन में यह भय रहता है कि हमें भी ऐसी अवस्था में न आना पड़जावे। परोपकार, उदारता, दया, ममता, कृतज्ञता, नम्रता, मैत्री आदि जितने भी गुण लोगों के सुखों के लिये आवश्यक हैं वे सब स्वरूपतः स्वदुःख-निवारणार्थ हैं। कोई किसी को दान देता या प्यार करता है तो केवल इस दृष्टि से कि अवसर आने पर वे भी मुझे देंगे और प्यार करेंगे। यदि अन्य कुछ न सही तो इतना तो ऐसा करने वाले के मन में अवश्य रहता है कि लोग उसे अच्छा आदमी कहेंगे। परोपकार और परार्थ दोनों शब्द भ्रान्ति-मूलक हैं। यदि कुछ तथ्यभूतवस्तु इस संसार में है तो वह है अपना स्वार्थ। तथा स्वार्थ का तात्पर्य है अपने लिए सुख प्राप्ति अथवा अपने लिये दुःख निवारण। माता यदि बच्चे को दूध पिलाती है तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह बच्चे पर प्रेम रखती है, इसमें सच्चा कारण है कि उसके स्तनों में दूध भर जाने से उसे दुःख न होजावे। इस दुःख की निवृत्त्यर्थ वह बच्चे को दूध पिलाती है। इसलिये सारभूत बात यह है कि नीति के निर्णय का स्तर अपने स्वार्थ की प्राप्ति ही क्यों न हो

फिर भी अपने स्वार्थ के भविष्य पर ध्यान रखकर दूसरों का सुख भी कर देना चाहिए। इसी विचारधारा के प्रवाह में बहते हुए इंग्लैण्ड में हाब्स और फ्रांस के विद्वान् हल्वेशियस ने यह प्रतिपादन किया है कि मनुष्य केवल विषयसुखमय स्वार्थ के सांचे में ढला हुआ एक पुतला है। हाब्स ने अपने विचारों का स्पष्टीकरण करते हुए यह स्वीकार किया है कि असभ्य तथा जंगली अवस्था में प्रत्येक मनुष्य का आचरण समय २ पर उत्पन्न होने वाली मनोवृत्तियों की प्रबलता के अनुरूप हुआ करता था। परन्तु शनैः शनैः कुछ काल के अनन्तर यह मालूम होने लगा कि इस प्रकार का मनमाना वर्ताव श्रेयस्कर नहीं; और यह निश्चितसा जान पड़ने लगा कि इन्द्रियों के स्वाभाविक व्यापारों की कोई मर्यादा निश्चित कर उसके अनुसार ही वर्तना चाहिए; इसी में कल्याण है। तब प्रत्येक मनुष्य इन मर्यादावों का पालन नियम के रूप में करने लगता है। ये मर्यादायें ही शिष्टाचार से, रीत्यन्तर अथवा प्रचलन से सुदृढ़ हो जाया करती हैं। इन मर्यादावों की संख्या अधिक हो जाने से इन्हीं का एक शास्त्र बन जाया करता है जो नीति शास्त्र अथवा धर्मशास्त्र के नाम से पुकारा जाने लगता है। कई भारतीय भी इसी धारणा को लेकर यह कहते हैं कि पूर्व समय में विवाह की प्रथा नहीं थी। इसका प्रचलन सर्वप्रथम श्वेतकेतु ने किया। मदिरापान निषिद्ध नहीं था शुक्राचार्य ने इसे निषिद्ध ठहराया। इस प्रकार इन्द्रियों के व्यापार के नियमन का विकास क्रमशः हुआ।

आधिभौतिकवादियों का तीसरा वर्ग यह है जो यह मानता है कि मनुष्य स्वभाव से केवल स्वार्थी नहीं हैं, उसमें परार्थ भी स्वाभाविक है। उनके अनुसार ऊपर कहा गया हाब्स का विचार सर्वथा असमीचीन है। हाब्स का यह नीति-

धर्म ज्योंही प्रसिद्धि पाने लगा बटलर जैसे विचारवान् विद्वानों ने इसका जी तोड़कर खण्डन कर दिया था। उसने यह सिद्ध किया कि मनुष्य का स्वभाव केवल स्वार्थी नहीं है, स्वार्थ के साथ ही उसमें निःसर्गतः भूत-दया, प्रेम और कृतज्ञता आदि गुण भी हैं। किसी व्यवहार कर्म का निर्णय मनुष्य के केवल स्वार्थ गुण पर ही नहीं करना चाहिए, इसके लिये उसके परोपकार अर्थात् परार्थ गुण पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। दूरदर्शीस्वार्थ भी इस नीतिमीमांसा में ठीक मार्ग नहीं। जब व्याघ्र जैसे क्रूर प्राणी में भी अपने बच्चों के लिये प्रेम देखा जाता है तो फिर यह कैसे माना जा सकता है कि मानव स्वभाव से स्वार्थी ही है। प्रसिद्ध वेदांती आनन्दगिरि ने भी दूरदर्शी स्वार्थवादियों के अनुसार ही युक्ति दी है। वेदान्त के शांकरभाष्य को खोलते हुए उन्होंने लिखा है कि जब मनुष्य में करुणावृत्ति का उदय होता है तो उसे दुःख मालूम पड़ता है, उस दुःख को हटाने के लिये ही वह लोगों पर परोपकार और दया किया करता है। इससे यह ज्ञात होता है कि आनन्दगिरि ने सब कर्मों को स्वार्थमूलक दिखलाकर उनके त्याग का उपदेश किया जिससे उनका अधूरा संन्यासवाद खड़ा हो सके। बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी को उपदेश करते हुए भी लोगों की प्रवृत्ति को स्वार्थ मूलक ही दिखलाया है। परन्तु याज्ञवल्क्य के स्वार्थ का वही तात्पर्य नहीं जो हेल्वेशियस और हाब्स के स्वार्थ का है। अस्तु, जो भी हो आधिभौतिक वादियों में एक तीसरा वर्ग भी है जो परोपकार और परामर्श को भी मानवस्वभाव मानता है और उसे कर्तव्यमीमांसा में आधारभूत मानता है। यह वर्ग भी आधिभौतिक सुखवादी ही है परन्तु दूसरे वर्ग से इसका इतना ही भेद है कि यह नीति निर्णय में स्वार्थ के साथ ही परोपकार पर भी

ध्यान देता है और स्वार्थ के समान ही परार्थ को भी मनुष्य में स्वाभाविक मानता है। लेकिन यह भी स्वार्थ और परार्थ दोनों को ही सांसारिक-सुखवाचक मानते हैं, क्योंकि सांसारिक सुख से परे कुछ भी नहीं है, ऐसा इस वर्ग के लोगों का विचार है। परन्तु जब स्वार्थ और परार्थ में झगड़ा पड़ जावे तो किधर के पलड़े पर होना चाहिए इस विषय के उपस्थित होने पर इस वर्ग के लोगों का माना हुआ परार्थ भी स्वार्थ से अधिक महत्व नहीं रखता। सामान्यतः स्वार्थ और परार्थ में विरोध उत्पन्न नहीं होता इसलिये मनुष्य जो कुछ भी करता है, वह समाज के हित के लिये होता है। यदि कोई व्यक्ति धनसंग्रह करता है तो उससे समस्त समाज का भी हित होता है, क्योंकि समाज व्यक्तियों के समूह को कहते हैं, और उस समाज के प्रत्येक व्यक्ति यदि दूसरे को बिना हानि पहुँचाये हुए अपना २ हित करने लगें तो पूरे समाज का हित होगा। इसलिये इस वर्ग के अनुयायियों का विचार है कि अपने सुख की ओर दुर्लक्ष्य करके यदि कोई व्यक्ति लोकहित का कुछ कार्य कर सके तो ऐसा करना उसका कर्त्तव्य होगा। परन्तु यदि स्वार्थ परार्थ में विरोध खड़ा होजावे तो ये लोग स्वार्थ को ही महत्व देंगे, इनकी दृष्टि में परार्थ की कोई श्रेष्ठता नहीं है। ये कहते हैं कि मनुष्य को अपनी समझ के अनुसार स्वार्थ-परार्थ की श्रेष्ठता का विचार करते रहना चाहिए परन्तु दोनों के बलाबल का निर्णय करते समय स्वार्थ पर ही झुकना चाहिए। यदि स्वार्थ और परार्थ का बलाबल किसी समय बराबर हो तो उस समय ये लोक-हित के लिये अपने स्वार्थ का तनिक त्याग भी करने को तैयार नहीं होंगे। इनके लिए सत्य की रक्षा में राज्य और प्राण तक का त्याग तो दूर रहा, ये तदर्थ थोड़ी भी अपनी हानि नहीं उठा सकते। यदि कोई मनुष्य उदारभाव से परार्थ प्राणो-

त्सर्ग कर दे तो ये उसकी वाङ्मात्र से सराहना भले ही कर दें परन्तु यदि यह अवसर स्वयं पर आजावे तो स्वार्थोन्मुख होना ही इनका ध्येय होगा। ये स्वार्थ और परार्थ को तोलकर चातुर्य से अपने स्वार्थ का निर्णय किया करते हैं—इसलिये ये उच्चस्वार्थवादी हैं। इस प्रकार आधिभौतिकसुखवादियों के संक्षेप में केवल स्वार्थवादी, दूरदर्शीस्वार्थवादी और उच्च-स्वार्थवादी तीन वर्ग हुए। इन तीनों वर्गों के अतिरिक्त एक और वर्ग भी है जो इनसे प्रगतिशील और इन सभी में श्रेष्ठ है। इस वर्ग के कुछ विद्वान् यह कहते हैं कि "एक ही मनुष्य के सुख को न देख कर, सब मनुष्यजाति के आधिभौतिक सुख दुःख के तारतम्य को देख कर ही नीति अनीति का निर्णय करना चाहिए"। एक ही कृत्य से एक ही समय में समाज के अथवा संसार के सब लोगों को सुख होना असंभव है। एक ही वस्तु किसी के लिये दुःखदायी और किसी के लिये सुखावह हो जाती है। इसलिये यह नहीं कहा जासकता कि कर्म-अकर्म-शास्त्र सभी के लिये उपयोगी होगा और इसी हेतु से "सब लोगों का सुख" इन पदों का अर्थ अधिकांश लोगों का अधिक सुख करना चाहिए। जिससे अधिकांश लोगों को अधिक सुख हो उसी बात को नीति की दृष्टि से उचित और ग्राह्य समझना चाहिए। तदनुकूल ही आचरण करना संसार में मनुष्य का वास्तविक कर्तव्य भी है। तृतीय वर्ग से इसकी विशेषता यह है कि इसमें स्वार्थ और परार्थ का झगड़ा पड़ने पर परार्थ को महत्व दिया जाता है। भारत में नीति की दृष्टि से मनुष्यों का विभाग करने वाले प्रसिद्ध त्यागी भर्तृहरि ने मनुष्य के चार वर्ग किये हैं—सामान्य, मानवराक्षस, अत्यन्त नीच और परोपकारार्थ विभूतिवाले सामान्य मनुष्य वे हैं जो अपने स्वार्थ को न छोड़ते हुए लोकहित के लिये प्रयत्न

करते हैं। नरराक्षस वे हैं जो अपने स्वार्थ के सिध्यर्थ दूसरे के स्वार्थ का विघात करते हैं और अत्यन्त नीच वे हैं जो लोक-हित का बिना प्रयोजन विघात किया करते हैं। परोपकारी सज्जन पुरुष वे हैं जो स्वार्थ को त्यागकर दूसरों का हित करते हैं। मनुष्यों के इन चार वर्गों में लगभग पूर्वोक्त सभी आधिभौतिकवादियों का अन्तर्भाव हो जाता है।

आधिभौतिकवादियों की नीति-मीमांसा-विषयक प्रक्रिया ऊपर दर्शायी गयी। अब थोड़ी सी इसकी समीक्षा करनी भी आवश्यक प्रतीत होती है, जिससे सारासारता का पता लग सके। यह तो एक स्वाभाविक बात है कि प्रत्येक मनुष्य सुख की इच्छा और दुःख के निवारण का प्रयत्न करता है। परन्तु यह सुख क्या है? और दुःख क्या है? इसका बिना निर्णय किये किसी परिणाम पर पहुँचना अत्यन्त कठिन कार्य है। आधिभौतिकवादियों का सर्वसाधारण मानदण्ड कर्तव्य-निर्णय के लिए बाह्य सुख है अतः उसका यहाँ पर आपाततः थोड़ा विचार अपेक्षित है। यद्यपि यह ठीक है कि मानव की ऐहिक और आमुष्मिक सारी प्रवृत्ति सुखार्थ है परन्तु सुख का निर्णय तो होना ही चाहिए। कभी कभी मनुष्य यह न समझते हुए कि सच्चा सुख किसमें है, मिथ्या सुख को ही सत्य सुख मानकर आशा से कार्य करता है। सुख की परिभाषा करते हुए कुछ लोग यह कहते हैं कि जिसे हम चाहते हैं अथवा जो हमें चाहिए वह सुख है और जो नहीं चाहिए अथवा जिसे हम नहीं चाहते वह दुःख है। इस दृष्टि से संसार के चाहे जाने वाले पदार्थ भी सुख की कोटि में आजाते हैं और सुख वेदनात्मक है यह धारणा स्पष्ट नहीं होती। पानी से प्यास बुझती है, दूध से क्षुधा से निवृत्ति होती है। इस उक्त परिभाषा के अनुसार पानी और दूध चाहने योग्य होने से

सुख हुए। परन्तु इन्हें सुख नहीं कहा जासकता। इनसे संपादित होने वाली वेदना तो सुख है ये स्वयं सुख नहीं। यदि इन्हें सुख माना जावे तो फिर पानी में डूबना अथवा दूध में निमग्न होना भी सुख ही मानना पड़ेगा। यह भी कोई सिद्धांतभूत बात नहीं कि हम जो कुछ चाहते हैं अथवा हमें जो चाहिए वह सब सुख ही हो। लोक में सुख से अतिरिक्त के लिये भी तो हमारी चाह और प्रयत्न हुआ करते हैं। यदि प्रत्येक इष्ट को सुख और अनिष्ट को दुःख माना जावे तो सुख और दुःख की समस्या भी उलझन में पड़जाती है, क्योंकि इष्ट और अनिष्ट भी तो वस्तुवों में स्थिर नहीं हैं। एक ही वस्तु किसी समय इष्ट और समयान्तर से अनिष्ट है, किसी के लिये इष्ट और किसी के लिये अनिष्ट है। संसार की प्रत्येक वस्तु इष्ट अथवा अनिष्टरूप से नियत नहीं हैं। उन में चित्त वृत्तियों के भेद से इष्टानिष्ट दोनों ही धर्म हैं। कोई वस्तु केवल इष्ट अथवा केवल अनिष्ट नहीं है। फिर सुख क्या है? प्रश्न ज्यों का त्यों बना रह जाता है। इस दिशा में एक दूसरा पक्ष भी है जो दुःख अथवा व्याधि के प्रतीकार को ही सुख मानता है। "जो प्रकाश नहीं वह अंधेरा है" की भांति ही इस पक्ष वाले सुख की व्याख्या दुःखाभाव से करते हैं। प्यास लगने पर उसका प्रतीकार पानी पीकर किया जाता है, भूख लगने पर जो पीड़ा होती है, उसका निवारण भोजन खाकर किया जाता है कामाग्निजनित ताप को रतिप्रसंग से बुझाया जाता है, इस प्रकार किसी व्याधि एवं दुःख का प्रतीकार ही सुख है। दुःख निवृत्ति के अतिरिक्त सुख कोई चीज़ नहीं है। इसी पक्ष की प्रकारान्तर से पुष्टि इस विचारधारा से भी होती है कि जब कोई तृष्णा उत्पन्न होती है तब उसकी पीड़ा से दुःख होता है और उस दुःख की पीड़ा से पुनः सुख समुत्पन्न होता है। इस विचार सूत्र का

विशदीकरण इस प्रकार किया जाता है कि मानव हृदय में पहले कुछ एक इच्छा, आशा वासना अथवा तृष्णा उत्पन्न होती है। उससे जब दुःख उत्पन्न होने लगता है तब उसके निवारण को ही सुख कहा जाता है। यही सुख है और कोई भिन्न वस्तु सुख नहीं। इस धारणा की दृष्टि से विचार करने पर मानव की समस्त सांसारिक प्रवृत्तियें केवल वासनात्मक एवं तृष्णात्मक ही ठहरेंगी। वस्तुतः सुख का यह दूसरा लक्षण भी ठीक नहीं। यह भी लक्षण अपने अधूरे सिद्धान्तों की पुष्टि के लिये कुछ लोगों की कल्पनामात्र है। यह सर्वथा तथ्यहीन बात है कि सब सुख तृष्णा आदि दुःखों के निवारण होने पर ही होते हैं। किसी समय देखी सुनी, चखी अथवा अनुभूत की हुई वस्तु के प्रति चाह अथवा इच्छा पैदा होती है। जब वह चाही वस्तु शीघ्र नहीं प्राप्त होती, अथवा उसके मिलने पर भी चाह की पूर्ति नहीं हो पाती, तो चाह अधिकाधिक बढ़ने लगती है। यह चाह की अभिवृद्धि ही अर्थात् इच्छा की तीव्रता को तृष्णा कहा जाता है। परन्तु यदि इस इच्छा की तीव्रता के तृष्णारूप में परिवर्त्तित होने के पूर्व ही, इच्छा की निवृत्ति अथवा तृप्ति हो जावे तो उससे होने वाले सुख के बारे में यह नियम नहीं निर्धारण किया जा सकता कि यह तृष्णा-दुःख के क्षय होने के पश्चात् उत्पन्न हुआ है। हम प्रति दिन समय पर भोजन करते हैं, हमें भोजन के पूर्व कोई दुःख नहीं होता दीखता जिसकी भोजन से निवृत्ति होकर पुनः सुख की हमें उत्पत्ति हो। हां, यदि भोजन मिलने में विलम्ब होजावे तब हमें बेचैनी होती है और भोजन से उसकी निवृत्ति अवश्य देखी जाती है। लेकिन नियम पर भोजन करते रहने पर यह नियम लागू नहीं होता। सुख तृष्णा का निवारणमात्र है, यह नियम लोक में अन्य उदाहरणों में भी एकान्ततः नहीं

देखा जाता है। सोकर जागरण में आये हुए बच्चे के मुंह में एक लड्डू का टुकड़ा डाल देने पर वह मिठास का अनुभव कर सुख मानता है-ऐसी परिस्थिति में यह अकस्मात् मिष्ट पदार्थ के सन्निधान से होने वाला ऐन्द्रिय सुख तृष्णामूलक नहीं कहा जा सकता। अकस्मात् किसी सुन्दर दृश्य को देखने से सुख का अनुभव हो उठता है, हम उसे तृष्णामूलक नहीं कह सकते। अचानक मधुर आवाज कान में पड़ी, सुन्दर दृश्य आंख के सामने आगया उस समय सुख की लहर दौड़ पड़ती है, ऐसी स्थिति में क्या यह मानने की बात हो सकती है कि हम ऐसे सुख की पहले से ही चाह लगाये बैठे थे और चाह के पूरा न होने से दुःख होरहा था, उसकी निवृत्ति पूर्वोक्त वस्तुओं से हुई और हमें सुख उत्पन्न हो गया। इस बात को जाने दीजिये दूसरा उदाहरण लीजिए। एक मिष्टान्न-निर्माता बहुत अच्छी अच्छी मिठाईयाँ बनाता है। किसी दिन हमने उसकी दूकान पर एक ऐसी नवीन मिठाई खायी जो कभी नहीं खायी थी। उससे हमें बड़ा स्वादसुख मालूम पड़ा। क्या हम कह सकते हैं कि यह सुख तृष्णामूलक है? जिसने विमान कभी न देखा और न सुना, यदि उसे विमानयात्रा से सुख का अनुभव होता है तो क्या उसे भी तृष्णा-निवारण से जनित कहा जासकता है, कदापि नहीं। इस लिये सर्वथा असत्य है कि समस्त सुख तृष्णा अथवा दुःख के प्रतीकारमात्र है। वस्तुतः इन्द्रियों में भली बुरी वस्तुवों का उपयोग करने की स्वाभाविक शक्ति उपस्थित होने के कारण जब वे अपना व्यापार करती रहती हैं और जब कभी उन्हें अनुकूल अथवा प्रतिकूल विषय की प्राप्ति हो जाती है तब तृष्णा अथवा इच्छा के बिना भी सुख दुःख का अनुभव हुआ करता है। सुख दुःख की परिभाषा में बहुत कुछ इन्द्रियों और बाह्य जगत् के

पदार्थों पर निर्भर करता है। समस्त आधिभौतिक सुख इन्द्रिय-सम्बन्धी हैं। जब किसी अनुकूल अथवा प्रतिकूल पदार्थ का किसी इन्द्रिय से सम्बन्ध होता है तब मन का आन्तरिक सम्बन्ध उस इन्द्रिय से विद्यमान रहता है और मन पुनः उस अवस्था में आत्मा से सम्बद्ध रहता है। आत्मा और मन का इस प्रकार इन्द्रिय और इन्द्रिय का बाह्य पदार्थ से सम्बन्ध होने पर संवेदन होता है। इस संवेदन में जो वेदना अन्तःकरण के अनुकूल होती है, उसका नाम सुख है और जो वेदना अन्तःकरण के प्रतिकूल होती है उसे दुःख कहा जाता है। यही दुःख और सुख का वास्तविक और पारिभाषिक लक्षण है। कान को परुष शब्द इसीलिये अप्रिय लगते हैं और जिह्वा को मधुर रस प्रिय लगता है। चन्दन का स्पर्श शरीर को आह्लादित करता है और संतापशील भगवान् अंशुमाली की किरणें दुःख देती हैं। न यहाँ आवश्यकता है पूर्व में तृष्णा की और न किसी व्याधि के प्रतीकार की। केवल बाह्य पदार्थ और इन्द्रियों के सम्पर्क की ही यहाँ पर प्रधानता है। समस्त बाह्य सुख इसी कारण ऐन्द्रियक कहे जाते हैं। सुख न तो दुःख का अभाव है और न दुःख को ही सुखाभाव रूप कहा जा सकता है, बल्कि सुख और दुःख दोनों ही स्वतंत्र वृत्तियें है। कोई किसी का अभावरूप नहीं। दुःख का विभाग तीन प्रकार से किया जाता है आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। बाह्यपदार्थों एवं प्राणियों के संपर्क से होने वाले दुःख को आधिभौतिक दुःख कहा जाता है। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अतिताप आदि दुःख जो दैवी पदार्थों से होते हैं उन्हें आधिदैविक कोटि में रखा जाता है। अपने शरीर के अन्दर होने वाले ज्वर आदि व्याधियें और मानसिक दुःख आध्यात्मिक दुःख हैं। जिस प्रकार दुःख के तीन भेद हैं ऐसे ही सुख के भी समझने चाहिएँ।

आधिभौतिक सुख बाह्य पदार्थों और प्राणियों के संपर्क से इन्द्रियानुभव द्वारा होता है। आधिदैविक सुख आधिदैविक पदार्थों की अविषमता से मिलता है। समय पर वृष्टि आदि होना, ऋतुवों के परिवर्तन आदि से जो सुख मिलता है, वह इसी कोटि में आता है। मनःप्रसाद और अन्तःकरण की प्रसन्नता तथा शरीर में आभ्यन्तरीय सुख आध्यात्मिक सुख है। गाढ़निद्रा और समाधि में होने वाला आत्मसुख भी इसी श्रेणी में आता है। इस प्रकार सुख दुःख के तीन भेद हैं और ये हैं दो भिन्न वेदनायें। सुख के इस लक्षण से यह बात भी सुतरां सुस्पष्ट है कि सुख और दुःख दोनों ही जगत् में हैं। केवल सुख या केवल दुःख नहीं। इन का चक्र बराबर चलता रहता है, कभी सुख प्राप्त होता है तो कभी दुःख की चपेट लगजाती है। संसार में पूर्ण सुखी तो कोई भी व्यक्ति हो नहीं सकता क्योंकि इस में सुख और दुःख दोनों का मिश्रण है। और तो और यदि मनुष्य को सुख ही सुख प्राप्त हो तब भी परिणाम में दुःख प्राप्त हो जाता है। इसका कारण यह है कि सुखों को भोगते रहने पर इन्द्रियों की शक्ति क्षीण हो जाती है और ये आगे भोगों के भोगने के योग्य नहीं रह जातीं। सुख भोग की इच्छा बढ़ती रहती है, वह भोगने से शान्त नहीं होती है। जगत् में आज तक कोई भी ऐसा व्यक्ति ऐसी परिस्थिति में नहीं आया कि उसे सदा सुख ही प्राप्त हो और दुख न मिले। वास्तव में सुख और दुःख गाड़ी के पहिये की भांति घूमते रहते हैं और क्रम से आते जाते रहते हैं। यह सर्वथा असंभव है कि संसार से दुःख का नाश हो जावे और सर्वदा सुख ही सुख का अनुभव प्राप्त होता रहे। सुख दुःख की ऐसी स्थिति क्यों है? इसलिये कि वह अन्तःकरण के अनुकूल अथवा प्रतिकूल वेदनायें हैं। एक ही वस्तु के संपर्क से एक समय में

अनुकूल वेदना प्राप्त होती है। और उसी से दूसरे क्षण में प्रतिकूल वेदना उपलब्ध होती। संसार में कोई वस्तु केवल सुख अथवा केवल दुःख की नहीं है। चन्दन के लेप से ग्रीष्म-काल में होने वाली वेदना सुखमयी है परन्तु जाड़े में उसी का लेप प्रतिकूल वेदना का जनक है। बबूल का कांटा मनुष्य को चुभने पर कष्ट देता है परन्तु ऊँट उसे खाजाता है उसमें अनुकूलता अनुभव करता है। विष एक अवस्था में मृत्यु का दाता है और अवस्थान्तर में वही अमृत है। अन्तः-करण और इन्द्रियों की अनुकूलता तथा प्रतिकूलता पर सुख दुःख का निर्णय होता है, यही कारण है कि सुख और दुःख एक ही वस्तु में प्राप्त होते रहते हैं। यदि जगत् में सुख और दुःख की वस्तुयें निश्चित होतीं तो सुख और दुःख भी निश्चित होते लेकिन ये सुख दुःख अन्तःकरण के अनुकूल और प्रति-कूल वेदनायें हैं और ये बदलते रहते हैं अतः सुख और दुःख परिवर्त्तित होते रहते हैं। जब सुख अनुकूल वेदना है और वह इन्द्रियजन्य है तथा वह एकान्तिक भी नहीं, दुःख से मिश्रित है और संसार में केवल सुख किसी को प्राप्त नहीं हो सकता है तो फिर यह बात सोचने की पड़जाती है कि आधि-भौतिकसुखवादियों का कर्तव्य-मीमांसा का मापदण्ड कहाँ तक युक्तिसंगत है। सुख के स्वभाव को देखते हुए और उस की आन्तरिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए यह कहना पड़ेगा कि केवल सुख जिसमें प्राप्त हो वही कर्म करणीय है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। इस बाह्यसुखवाद को लेकर जैसा पहले कहा जा चुका है नीति-मीमांसा में लोगों ने अनेक पूर्व कथित वादों को जन्म दिया है। इन बाह्य सुखमात्र को उद्दे-श्य में रखकर कर्म अकर्म का विचार करने वाले इस दृष्टि से नीतिनिर्धारण में स्वार्थ, भावी स्वार्थ, उच्चस्वार्थ, परोपकार

और मनुष्यता का मानदण्ड वर्तते हैं। जहां तक केवल स्वार्थ का संबन्ध है वह संसार में चल नहीं सकता। अपना स्वार्थ पूरा हो अन्य का स्वार्थ गड्ढे में जावे यह नीति संसार में चल नहीं सकती। अपने स्वार्थ सुख को यदि प्रत्येक व्यक्ति अपना उद्देश्य बनाकर तदनुकूल कर्म करने लगे तो समाज सर्वथा छिन्न भिन्न हो जावे। यदि यह स्वार्थ किसी एक व्यक्ति का माना जावे तो उसका जीवन संसार में समष्टि के अन्दर सुतरां असंभव है, यदि बहुतों का तो उस हालत में परस्पर स्वार्थों का संघर्ष संभव है और इससे सभी के स्वार्थ का विघात होगा। संसार में मत्सन्याय का बाहुल्य होकर सारी व्यवस्था ही गड़बड़ा जावेगी। यह स्वार्थ की वृत्ति अत्यन्त जघन्य है। इस को नीति निर्णय का मानदण्ड मानने पर 'मैं' को ही केन्द्र मानना पड़ता है। 'हम' और 'अन्य' का इसमें कोई ध्यान नहीं। परन्तु यह ध्यान है अत्यन्त आवश्यक और व्यवहार्य। मनुष्य के स्वभाव में केवल स्वार्थ की ही वृत्ति नहीं साथ साथ परार्थ की भावना भी है इस लिए केवल स्वार्थ नीतिनिर्णय का मानदण्ड नहीं हो सकता।

भविष्य अथवा भावी स्वार्थ को दृष्टिकोणमें रख कर भी किसी कर्म के कर्त्तव्य अथवा अकर्त्तव्य होने का निश्चय नहीं हो सकता। जो कुछ भी कर्त्तव्य कर्म है वह अपने आगामी सुख एवं दुःख को निवारण के लिये ही किया जाता है, यह दृष्टि कोई अच्छी दृष्टि नहीं। दान और अहिंसाधर्म का पालन केवल अपने आगामी सुख के सिद्ध्यर्थ अथवा भावी दुःख के निवारणार्थ ही नहीं है। बहुत से ऐसे भी व्यक्ति हैं जो अपना सर्वस्व दान कर देने को तैयार रहते हैं, अपने भूखे रहकर भी दूसरे की सेवा करते हैं, अपनी जान को देकर भी दूसरे की जान को बचाना स्वीकार करते हैं, क्या यह सब आगामी

सुख के लिये ही है ? कभी नहीं । 'यदि मैं किसी को मारूंग तो वह भी मुझे मारेगा' इस स्वकीय भावी दुःखनिवारण की भावना ही अहिंसा का नियम पालने को बाध्य करती है-यह भी एकान्तिक नहीं है । देश पर प्राणोत्सर्ग करने वाले अथवा किसी महान् कार्य के लिए अपने को बलिदान करने वाले व्यक्ति में यह नियम नहीं लागू होता है । वह भी तो अहिंसा ही है कि बिना किसी को कष्ट दिये हुए अपने को दूसरे के कष्ट के निवारणार्थ विपत्ति में भी डाला जावे, जहां अहिंसा के पालनार्थ जीवन की बाज़ी लगायी जाती है वहां भी क्या यही नियम दृष्टिगोचर होता है ? । माता बच्चे को प्रेम के कारण दूध नहीं पिलाती बल्कि दूध के भरजाने से अपने स्तनों में होने वाली पीड़ा के निवारणार्थ वह ऐसा करती है, यह दृष्टान्त सर्वथा विषम और अतथ्यमय है । यदि माता में बच्चे के लिये प्रेम न होता केवल स्वार्थ वश ही वह उसे दूध पिलाती होती तो बच्चा शैशव काल में ही मर जाता । दूध के एकत्र होने के कष्ट को तो औषधि प्रयोग से भी दूर किया जा सकता है, परन्तु कोई भी माता ऐसा करने को तैयार नहीं । जिन माताओं में दूध की न्यूनता होती है वे औषधि आदि के सेवन से स्तनों में दुग्ध की वृद्धि करने का प्रयत्न करती हैं, केवल इस लिये कि बच्चे को पूरा दूध मिल सके । क्या यहाँ पर भी उसकी वही धारणा है ? नहीं । बच्चे के मरजाने पर भी माता के स्तनों में दूध कुछ दिनों तक एकत्र होता रहता है और कष्ट भी होता है, मातायें औषधोपचार आदि से उस कष्ट का निवारण कर ही लेती हैं, फिर यही विधि दूध के एकत्र होने से स्तनों में होने वाले कष्ट से बचने के लिये भी वर्ती जा सकती है परन्तु ऐसा करने को कोई माता प्रस्तुत नहीं होगी । यदि अपने बच्चे के प्रति माता के स्वार्थ के अति-

रिक्त सहज प्रेम न होता तो माता अनेकों कष्ट सहन करके बच्चे को अस्तित्व में ही क्यों आने देती। यहाँ पर कोई मन-चला यह कह सकता है कि कामवासनारूपी दुःख के निवारणार्थ उसके प्रयत्न से घुणाक्षर-न्याय से ऐसा होगया, परन्तु यह भी युक्ति संगत बात नहीं। काम-वासना की निवृत्ति ही सन्तति का कारण नहीं। यदि ऐसा होता तो निःसन्तान माताको सन्तति के अभाव का दुःख नहीं होना चाहिए परन्तु होता है। ऐसी मातायें नगण्य संख्या में भी नहीं मिलेंगी जो काम की पूर्ति का आश्वासन रहते हुए भी सन्तान न चाहती हों। कोई कह सकता है कि जीवन का यह स्वाभाविक नियम ही है कि वह सन्तति द्वारा अपनी परम्परा को अक्षुण्ण रखे, यही कारण है कि सभी सजीव योनियों में सन्तति उत्पन्न करने की स्वाभाविक इच्छा पायी जाती है। परन्तु ऐसे व्यक्ति यह भूल जाते हैं कि जिस प्रकार सन्तान उत्पत्ति की इच्छा सजीव योनियों में स्वाभाविक है, वैसे ही सन्तति के साथ प्रेम भी नैसर्गिक है। व्याघ्र जैसे मांसाद् में भी तो अपने बच्चे के लिये प्रेम होता है। फिर मनुष्य का तो कहना ही क्या? यह तर्कशैली कि "जब हममें कारुण्य-वृत्ति का उदय होता है और हम को उससे दुःख होता है तब हम उस दुःख के मिटाने के लिये अन्यों पर दया और परोपकार किया करते हैं" भी समीचीन नहीं है। यदि किसी व्यक्ति को दुःखी देख कर हमारे हृदय में करुणा आगयी और हमने उसके दुःख के निवारणार्थ कुछ प्रयत्न किया तो यह अपने दुःख के निवारणार्थ किया, यह सत्यभूत बात नहीं। कभी कभी परोपकार और दया की भावनायें जीवन में विना किसी कारुण्य-वृत्ति को उत्पन्न करने वाली घटना के उपस्थित हुए ही होती रहती हैं जिन लोगों में कारुण्य-वृत्ति का उदय नहीं होता क्या उन्हें इस धारणा के अनु-

सार सर्वथा सुखी समझना चाहिए। यदि कारुण्य-वृत्ति का जागरण होकर तन्निवृत्त्यर्थ ही दया और परोपकार का होना अनिवार्य है तो निरपेक्ष, उदासीन और वीतरागों में परोपकार की भावना का उदय होना ही नहीं चाहिए। हमारे जीवन में कई बार ऐसा होता है कि हम घटनाओं को देखते हैं, करुणा का प्राबल्य हो उठता है परन्तु हम दया और उपकार नहीं करते, तो क्या इस का तात्पर्य यह हुआ कि हम इसमें एक महान् दुःख का सहन कर रहे हैं। यह प्रत्यक्षसिद्ध बात है कि करुणा के उत्पन्न होने पर भी कोई दुःख नहीं होता। नाटक देखते हुए दृश्य देखकर कारुण्य-वृत्ति का उदय होता है, आँखों से आँसू निकल पड़ते हैं, लोग रोते भी हैं, परन्तु वह दुःखावह नहीं, सुखार्थ है, अन्यथा कोई भी व्यक्ति पुनः ऐसे दृश्य के देखने के लिये प्रवृत्त न होता। अपने बच्चे को दुःख में देख कर भी करुणा जागृत होती है परन्तु उसके लिये किया गया कार्य उसकी भलाई का होते हुये भी परोपकार नहीं कहा जा सकता, वह स्वोपकार ही है। करुणा की दया और परोपकार के साथ कोई व्याप्ति नहीं बनती। कल्पना कीजिये एक व्यक्ति की एक आँख में कोई रोग होगया है। उसका प्रभाव यदि वह आँख न निकाल दी जावे, दूसरी आँख पर भी पड़ने का है, डॉक्टर उसकी आँख निकालने का विचार सुनाता है, हमारे हृदय में झट उससे रोगी की आँख निकलने से होने वाली बीभत्सता आदि का अनुमान कर करुणा पैदा होती है। हम रोगी के भय और आँख निकलवाने की अनिच्छा को देखकर द्रवीभूत हो उठते हैं और कुछ रुपये देकर भी डॉक्टर से उसे मुक्त कर उसकी आँख निकलने से बचाते हैं। क्या हमारा यह कार्य दया और परोपकार का हो सकेगा। यदि हो सकेगा तो फिर अहित की परिभाषा क्या होगी

और यदि नहीं हो सकेगा तो फिर कारुण्य-वृत्ति और परोपकार का सम्बन्ध क्या रहा ? हाब्स और ह्यूम ने मनुष्य के स्वाभाविक प्रेम का विश्लेषण करते हुए जो यह दर्शाया है कि कोई भी व्यक्ति अपने हितार्थ ही प्रेम करता है दूसरे के हितार्थ नहीं, बच्चों को प्यार इसलिये करता है कि वे उस के हैं, मित्र को प्रेम इस लिये करता है क्यों कि यह उसका है, और अपने देश से प्रेम इस लिये है कि उस के साथ आत्म-सम्बन्ध लगा है, इत्यादि भी सार हीन हैं। आत्मीयता और ममत्व ही प्यार अथवा दया के कारण नहीं हैं। एक व्यक्ति रास्ते में जाते हुए व्यक्ति को देख कर भी दयार्द्र होजाता है जब कि वहाँ पर उसका कोई आत्मीय सम्बन्ध नहीं। रेल दुर्घटना में क्षत हुए विकलाङ्ग व्यक्तियों को देख कर लोगों में उनकी सेवा सुश्रूषा के लिये भाव पैदा होता है। कभी कभी ऐसा भी देखा जाता है कि मां बाप घटना में मृत्यु के ग्रास हुये और बच्चा जीवित है। बच्चे को देखकर प्रेम, दया, प्यार, उपकार की भावना का लोगों में सहसा उदय हो जाता है जब कि वहाँ पर किसी की कोई आत्मीयता अथवा ममत्व नहीं है। ऐसी स्थिति में यह कहना कि ममत्व ही प्रेम आदि का कारण है ठीक नहीं। यह ठीक है कि सामान्य मनुष्य की प्रवृत्ति स्वार्थ-सुख विषय की होती है परन्तु इस एक ही बात को लेकर कार्याकार्य, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय नहीं किया जा सकता। स्वार्थवृत्ति के साथ साथ मानव में होने वाली परार्थ भावना का भी विचार नीति-निर्णय में आवश्यक है।

आधिभौतिक-सुख-वादियों का उच्चस्वार्थवाला मार्ग भी नीतिनिर्धारण में उपयोगी नहीं। ये लोग अपने स्वार्थ की सिद्धि करते हुए उदारता से काम लेते हैं और दूसरे के स्वार्थ का अवसर देते हैं परन्तु इतने मात्र से इस पक्ष की उपयोगिता

सिद्ध नहीं हो सकती। संसार में ऐसे पुरुष भी हुये हैं और हैं भी जो सदा अपनी हानि उठाकर भी दूसरे के हित को सिद्ध करने में कटिबद्ध रहते हैं। यदि अपने स्वार्थ की सिद्धि में चतुरायी का नाम ही दूसरे के स्वार्थ की आनुषंगिक सिद्धि भी है तो फिर ऐसे महामानवों की इस निष्काम परार्थसिद्धि की भावना को जगत् में स्थान नहीं रहता है। लेकिन हम मानव में इस भावना का अङ्कुर बद्धमूल देखते हैं, जिसका अपलाप नहीं किया जा सकता। महापुरुषों के जीवन में यह वृत्ति प्राचुर्य से पायी जाती है। संसार में यही कारण है कि ऐसे पुरुषों का स्थान प्रथम रहा है जो स्वार्थ और परार्थ के तारतम्य का विचार किये बिना परार्थ के लिये अपने स्वार्थ को छोड़ने में सदा उद्यत रहे। उदारस्वार्थवादी यहाँ पर यह कहते हैं कि यद्यपि तात्विक दृष्टि से परार्थ श्रेष्ठ है तथापि परम सीमा की शुद्ध नीति की ओर न देखकर हमें केवल यही निश्चित् करना चाहिये कि साधारण व्यवहार में 'सामान्य' मानव को कैसे चलना चाहिये और इसी लिये उच्च स्वार्थ व्यवहारिक होने से अग्रस्थान रखता है। परन्तु विचार करने पर यह युक्तिवाद कोरा वाग्विलास ठहरता है। लोक में यह देखा जाता है कि सर्वसाधारण व्यक्ति दूध में पानी मिलाकर बेच देते हैं, व्यापारी साधारणतः वस्तुओं को ग्राहक को देते समय न्यून माप कर देते हैं, स्वर्णकार सोने में खोट भी मिला देते हैं, साधारणव्यक्ति थोड़ा झूठ और अन्याय चलकर भी अपना कार्य सिद्ध करलेतें हैं परन्तु इन उदाहरणों को लेकर यह नियम नहीं निर्धारित किया जा सकता अथवा निर्धारित हो भी जावे तो न्याय नहीं कहा जा सकता कि दूध में पानी ही मिलाकर बेचना चाहिए, सरकारी माप में कमी अथवा खोटापन रखा जाना चाहिए, राजकीय स्वर्णमुद्रा में खोट रहनी चाहिए,

और न्यायाधीश को भी न्याय करने में अन्याय और झूठ का आश्रय लेना चाहिए। कर्त्तव्य-मीमांसा-दर्शन का कार्य विशुद्ध नीतिनियम का निर्णय करना है, यदि वह इसको पूरा न कर सके और जनसाधारण में चालू बात को ही नीति का नियम बनादे तो वह निष्प्रयोजन और निष्फल है। उच्च स्वार्थ सामान्य मनुष्यों का मार्ग है, यह आधिभौतिक-सुखवादी भी स्वीकार करते हैं, फिर इसी पर नीतिनियमों का निर्धारण करना उत्तम बात तो कही नहीं जा सकती। साधारण लोगों की धारणा भी तो यही है कि निष्कलङ्क नीति और सत्पुरुषों के आचरण का ही अनुसरण करना चाहिए। श्रेष्ठ और सत्पुरुषों के आचरण के लिये भी जनसाधारण का मार्ग प्रशस्त अङ्ग नहीं बन सकता। वे इसे किसी भी अवस्था में अपने आचरण का अंचल नहीं बना सकते। यह मार्ग काम चलाऊ तो है परन्तु नीति का तत्व नहीं हो सकता। नीतिनिर्धारण में सामान्य-जनों के मार्ग से ऊपर उठकर सत्पुरुषों के उपकारादि आचरणों का भी अनुसरण परमावश्यक है।

आधिभौतिक पन्थियों का एक वर्ग और भी है जो कुछ आगे बढ़ता है। वह तोड़ मरोड़ कर अपनी दृष्टि से परोपकार पर भी बलदेता है। नीतिनिर्धारण में वह इस तत्व का समावेश करता है और इसीलिये पूर्वों की अपेक्षा सात्विक कहा जा सकता है। वह चातुरी से अपने पक्ष को सिद्ध करने का प्रयत्न करता है परन्तु विचारवान् को उसमें भी अधूरापन ही दृष्टिगत होता है। वह यह मानता है कि एक ही मनुष्य के सुख को न देखकर सारी मनुष्यजाति के बाह्य सुख के तारतम्य को देख कर ही नैतिक कार्य अकार्य का निर्णय होना चाहिए। परन्तु एक ही समय में एक ही कृत्य से संसार के सभी मानवों का सुखी होना असंभव है, एक ही बात सबको हितावह हो

भी नहीं सकती अतः "सब लोगों का सुख" इन शब्दों क
अर्थ अधिकांश लोगों का अधिक सुख करना चाहिए। सारां
शतः जिस में अधिकांश लोगों को अधिक सुख हो, उसी क
नीति की दृष्टि से उचित और ग्राह्य मानना चाहिए और ऐस
ही आचरण करना इस संसार में मनुष्य का परम कर्त्तव्य है
यद्यपि इस वर्ग के व्यक्तियों की ये बातें ऊपर से बहुत अच्छी
दिखलायी पड़ती हैं। परन्तु आन्तरिक विवेचन से इनका
अंचल भी सारभूत नहीं प्रतीत होता। संतजनों और महात्माओं
की विभूतियाँ परोपकार और केवल जगत् के कल्याण के
लिये होती हैं, इसमें कोई संदेह नहीं, वे होते ही हैं सब प्राणि
यों के हित में रत। जिससे प्राणियों का अत्यन्त हित हो वह
सत्य है, यह भी सिद्धान्ततः मान्य है, परन्तु इन ज्ञानीजनों के
इस बाह्य व्यवहार और आचरण के बाह्य लक्षण को समझकर
किसी किंकर्त्तव्यविमूढावस्था में कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय
कर स्थूलदृष्टि से उस तत्व का उपयोग करना एक बात है
और अन्य अंचलों तथा अन्तःपरिस्थितियों का बिना विचार
किये इसी को नीतितत्व का सर्वस्व मानकर कर्त्तव्यमीमांसा
का भव्य प्रासाद खड़ा करना दूसरी वस्तु है। यह ठीक है
कि नीतिनिर्धारण में सर्वभूतहित का ध्यान रहना चाहिए
परन्तु यदि सर्वभूतहित का अर्थ अधिकांश लोगों का अधिक
सुख मानकर कार्याकार्य का निर्णय कर लिया जाया करे तो
अनेक ऐसी जटिल समस्यायें मार्ग में उपस्थित होंगी जिनका
निवारण करना असंभव होगा। प्रथम तो यही निर्णय करना
कठिन है कि सारे भूतों का हित अथवा अधिकांश लोगों का
अधिक सुख है क्या? और किस में?। यदि किसी तरह
अधिकांश लोगों के अधिक सुख को मानदण्ड मानकर आगे
बढ़ा भी जावे तो ऐसा करने में कोई तत्व नहीं दिखाई पड़ता

है। वर्तमान कोरिया के युद्ध को ही लीजिये। इसमें चीन और अमेरिका जैसी दो शक्तियों का प्रत्यक्ष हाथ है। चीन की जन-संख्या कोरिया और विशेषतः दक्षिण कोरिया के लोगों से बहुत अधिक है। यदि दक्षिण कोरिया का क्षेत्र किसी भाँति उत्तर कोरिया के लोगों के पक्षमें युद्ध करने के पुरस्कारस्वरूप चीन को मिल जावे तो निश्चय चीन के अधिकांश लोगों के अधिक सुख का वह साधन होगा। परन्तु अधिकांश चीनियों के अधिक सुख के हेतु से दक्षिणी कोरिया को उसे समर्पण कर दिया जावे और वहाँ के लोगों को परतंत्र बना दिया जावे, किसी भी प्रकार उचित और न्याय्य नहीं कहा जासकता। रामायण का युद्ध भारत में एक स्त्री के अपहरण पर लड़ा गया था उसमें लंका के अधिकांश लोगों के अधिक सुख को न देख कर एक स्त्री के लिये उन्हें बरबाद कर दिया गया। महाभारत युद्ध को लीजिये तो पूर्वोक्त सिद्धांत और भी असार दिख-लायी पड़ेगा। पांडवों के पक्ष में केवल सात अक्षौहिणी सेनायें थीं और कौरवों के पक्षमें ग्यारह अक्षौहिणियें थीं। यदि पाण्ड-वों की हार हुई होती तो कौरवों को अधिक सुख होता, लेकिन इसी युक्ति पर पाण्डवों के पक्ष को अन्याय्य और अनुचित नहीं माना जासकता। परिस्थितियां समय समय पर भिन्न भिन्न रूप में उपस्थित होती रहती हैं। यदि ऐसी अनेक परिस्थितियों में केवल संख्या के आधार पर निर्णय कर लिया जावे तो महती भूल होगी। लाखों दुर्जनों के सुखों की अपेक्षा एक ही सज्जन का सुख अधिक महत्व रखता है। लाखों दुर्जनों का जिसमें हित हो उस कर्म की अपेक्षा एक सज्जन को जिस में सुख हो वह कर्म अधिक संगत और न्याय है तथा ऐसा मान लेने पर अधिकांश लोगों के अधिक सुख वाला मानदण्ड बिल्कुल ही खोखला हो जाता है। अतः यह मन्तव्यभूत बात है कि जन-

संख्या की न्यूनाधिकता का नीति निर्धारण के साथ कोई विशेष तात्विक सम्बन्ध नहीं। किसी समय जो बात साधारण समझ के लोगों को सुखदायी मालूम पड़ती है, वही बात एक दूरदर्शी व्यक्ति को परिणाम में सबके लिये हानिप्रद दिखलायी पड़ती है। ऐसी भी परिस्थिति समक्ष आती है कि अधिक लोगों का अधिक सुख किसमें है? कौन उसका निर्णय करे? और कैसे करे? साधारण अवस्थाओं में इसके निर्णय का भार उन्हीं लोगों पर डाल दिया जाता है जिन के सम्बन्ध में सुख दुःख का प्रश्न उपस्थित है। उनकी उस अवस्था में यह निर्दोष शक्ति नहीं रहती कि वे इसका निर्णय कर सकें। वे इस बात के निर्णय में असमर्थ पाये जाते हैं कि उनका अधिक सुख किसमें है। अधिक लोगों के अधिक सुख का अस्त्र नीतिनिर्णय विषय में यदि साधारण व्यक्ति के हाथ में दे दिया जावे, तो परिणाम भी भयंकर ही होगा। बन्दर को शराब पिलाकर, बिच्छू के डंक से दष्टकरके पुनः उसमें भूत का संचार कर देने पर जो परिणाम होता है वही सर्वसाधारण के हाथ में नीति-निर्णय में "अधिकांश लोगों का अधिक सुख" का हथियार देने से होगा। महात्मा गांधी की निर्मम हत्या करने वाले हत्यारे ने भी तो देशसेवा और जातिसेवा का नाम लेकर ही इस नैर्घृण्यपूर्ण कार्य को किया था। लेकिन उतने मात्र से ही उसके जघन्य कर्म को नीतियुक्त प्रशस्त नहीं माना जा सकेगा। नीतिनिर्धारण का तत्व कितना ही शुद्ध और सत्य क्यों न हो, उसके उपयोग के अधिकारी कौन हैं और वे उसका उपयोग कब और कैसे करते हैं? इत्यादि बातों की मर्यादा का निर्धारण भी उसी तत्व के साथ होना चाहिए। अन्यथा अनर्थ की संभावना पदे पदे पदे बनी रहेगी। इस पूर्वोक्त पक्ष में इन बातों का विचार नहीं है, यह एक बड़ा भारी दोष है। चूंकि न

केवल संख्या की दृष्टि से नीति का उचित निर्णय हो सकता है और न इस बात का निश्चय करने का कोई बाह्य साधन ही है कि अधिकांश लोगों का अधिक सुख किसमें है, अतः इस पक्षमें कोई सारतत्व नहीं दिखलायी पड़ता कि अधिकांश लोगों का अधिक सुख, जिस में, वही कर्त्तव्य है। इसके अतिरिक्त एक और भी आक्षेप इस मत में यह खड़ा होता है कि इस मत वाले किसी कार्य के केवल बाह्यपरिणाम से ही उसके न्याय अथवा अन्याय्य होने का निर्णय करते हैं। वस्तुतः केवल उसके बाह्य परिणामों से किसी वस्तु की औचिती अनौचिती का निर्णय नहीं किया जा सकता। मनुष्य यंत्र नहीं है कि बाह्य परिणामों से उसके कार्यों की अच्छाई या बुराई का निर्णय हो जावे। एक घड़ी अथवा टेली-प्रिन्टर को ठीक ठीक चलता और कार्य करता देख कर हम यह कह देते हैं कि यह अच्छी है और न चलते हुए कहते हैं कि यह खराब है। परन्तु मनुष्य में यह नियम नहीं घटता। वह घड़ी और टेली-प्रिन्टर के समान नहीं कि बाह्य कार्यों से उसका अन्तः जाना जासके। मनुष्य के प्रत्येक कर्म के विषय में भी इसी प्रकार बाह्य परिणामों से औचित्य तथा अनौचित्य का निर्णय किया जाना संभव नहीं। यह वास्तविक है कि सभी सत्पुरुष जगत् के कल्याणार्थ प्रयत्न करते हैं परन्तु इस से यह परिणाम नहीं निकाला जा सकता कि जो कोई लोक कल्याण के लिये कर्म करता है वह प्रत्येक साधु ही है। मनुष्य हृदययुक्त है और यंत्र हृदयहीन है। मनुष्य के प्रत्येक कार्य में हृदय की छाप है अतः उसका टटोलना और जानना उसके प्रत्येक कर्म के समझने के लिये आवश्यक है। मनुष्य के कर्मों का निर्णय करते हुए बाहरी परिणाम ही नहीं देखना चाहिए बल्कि उसका इसके करने में अन्तःकरण कैसा है, यह भी विचारना चाहिए। निष्कर्षतः कोई कार्य

प्रशस्त है या अप्रशस्त है, धर्म है अथवा अधर्म है, नीति का है अथवा अनीति का है, इत्यादि बातों का वास्तविक निर्णय उस कार्य के बाहरी परिणाममात्र एवं अधिकांश लोगों को अधिक सुख देगा या नहीं–इतने से ही नहीं किया जा सकता। उसी के साथ साथ उसके कर्त्ता की बुद्धि, वासना, हेतु और मनशा को भी देखना पड़ेगा। कल्पना कीजिये कि कोई व्यक्ति किसी स्थान पर एक ऐसा कारखाना खोलना चाहता है जिसमें हजारों आदमी कार्य करेंगे और बहुत से लोगों का उससे हित होगा। कर्मचारी उसके लिये अनुमति नहीं देते। वह किसी बड़े अधिकारी को घूस देकर कारखाने की स्वीकृति लेलेता है और चालू करता है। कारखाना खुल गया, इससे अधिक लोगों को सुख भी है परन्तु इससे घूस देना न्याय्य नहीं समझा जावेगा। घूस देकर उसने समाजमें एक दुर्गुण का प्रसार किया है वह हर अवस्था में अनुचित ही है। दो व्यक्ति दान करते हैं, दोनों के दान कर्मों का बाहरी परिणाम समान है, फिर भी दोनों की बुद्धि में महान् अन्तर है। एक ने निष्काम बुद्धि से किया और दूसरे ने कीर्त्ति आदि फल की आशा से। एक घातक आदमी भी किसी की आँख को निकाल लेता है और एक डॉक्टर भी दोनों कर्मों का बाह्य परिणाम एक सा है परन्तु दोनों की भावना में अन्तर है। घातक ने हानि पहुँचाने के लिये ऐसा किया और डॉक्टर की भावना लाभ पहुँचाने की है। एक व्यक्ति किसी राज्यकर्मचारी की याचना पर एक लाख रुपया किसी धर्म कार्य के लिये देता है। दूसरा न्यून सामर्थ्यवान् सौ रुपये ही देता है। बाह्य परिणाम से और अधिक लोगों के अधिक सुख के नियम से कर्मों में अन्तर है परन्तु दोनों की नैतिकता एक जैसी ही है। एक छोटा बच्चा मां के ऊपर लात मारता है खेलते हुए उसके शरीर पर भी

टट्टी और पेशाब कर देता है, यदि एक सयाना लड़का भी अपनी मां के साथ ऐसा ही वर्ते तो बाह्य परिणाम में दोनों कर्म समान होंगे परन्तु नीति की दृष्टि से दोनों में भेद है। लाखों का दान करने वाले और केवल बीस रुपयों का दान करने वाले में नैतिक भेद नहीं जब कि अधिक लोगों के अधिक सुख की कसौटी से उनमें भेद दिखलायी पड़ता है। दान में भी देश काल और पात्र को देखकर जो दान किया जाता है वही ठीक है। देश काल और पात्र भेद से भी दान में अन्तर आता है जब कि बाह्य परिणाम की दृष्टि से उनमें अन्तर नहीं। एक व्यक्ति भूख से मर रहा है उसको रोटी देना उस दान से अधिक महत्व का है जो ईंटों की दीवारों के बनाने में दिया जाता है। अमीर के लक्ष के दान से गरीब का सौ का दान अधिक महत्वपूर्ण है। जिस प्रकार नीतिनिर्धारण में संख्या की अपेक्षा नहीं है उसी प्रकार सुख की मात्रा की भी अपेक्षा नहीं। अधिकांश लोगों के अधिक सुख की कसौटी पर नीतिमत्ता को कसने पर उसमें एक बड़ा दोष यह भी है कि कर्त्ता के मन के भाव और हेतु पर उसमें ध्यान नहीं दिया जाता। यह विचार है परमावश्यक। मनुष्य के कार्य का बहुत कुछ उसके अन्तःकरण पर निर्भर है। कई लोगों के बाह्य कर्मों को देखकर समझा जाता है कि वे महात्मा होंगे परन्तु उनकी आन्तरिक स्थिति वैसी नहीं। साधुओं के वेश में गुप्तचर भी होते हैं, दोनों का बाह्य लक्षण यद्यपि एक है फिर भी वास्तविक स्थिति में महान् अन्तर है। अकिञ्चन का मुट्ठी भर चावल धनी के मनों अन्न के दान से अधिकमहत्व और नैतिक मूल्य रखता है। यह तो लोक में देखा ही जाता है कि विधान निर्माण करने वाली सभायें अनेक व्यक्तियों से निर्मित होती हैं और वे जो विधान बनाती हैं वह लगभग अधिकांश लोगों

के सुख के लिये ही होता है, परन्तु इतने मात्र ही से ही किसी विधान के न्याय होने का विचार और निर्णय न किया जावे समुचित नहीं। यह देखना भी तो आवश्यक है कि विधान निर्माता सदस्यों का उस समय अन्तःकरण कैसा था। किसी व्यक्ति की हत्या करना अवैध है परन्तु दो हत्याओं में अन्तर हो सकता है। एक हत्या निर्मम की गई और दूसरी अपनी रक्षा में की गयी। केवल मौत के परिणाम को देखकर दोनों एक नहीं कही जा सकती हैं। एक सेवक अपने मालिक के पैसों में से कुछ पैसे ले लेता है, उसका यह कर्म चोरी का है, और विधान से उसे पुलिस के हवाले किया जा सकता है परंतु मालिक की स्त्री और माता भी उसके रुपयों में से कुछ यदि रख लें तो उसे भेद खुलने पर मितव्ययता कहा जावेगा। क्यों कि उनका उद्देश्य पैसा बचाकर रखना है और समय आने पर अपने बच्चों के कार्य में व्यय करने का है। इसलिये कोई भी विधान इस लिये उचित नहीं कहा जा सकता कि उसे बहुत से लोगों ने बनाया है और बहुतों के सुख के लिये बनाया है। इन्हीं न्यूनताओं को देखकर भारतीय दार्शनिकों ने नीति के तत्व का विचार करते हुए बाह्य बातों के अतिरिक्त कर्त्ता की शुद्ध बुद्धि और मनोभाव पर भी बल दिया है। उन्होंने मानव की मानसिक गतियों का विश्लेषण करके सात्विक, राजस और तामस भेद किये हैं। इन भेदों के कारण कर्म के बाह्य परिणामों में समानता दिखलायी पड़ते हुए भी महान् भेद हो जाते हैं। पाश्चात्य विद्वानों में काण्ट ने नीति के विवेचन का प्रारम्भ कर्म के बाह्य और दृश्य परिणामों के तारतम्य को गौण मानकर कर्त्ता की शुद्ध बुद्धि से ही किया है। ह्यूमने स्पष्टतया स्वीकार किया है कि जब मनुष्य का कर्म ही उसके शीलका द्योतक है और वही लोगोंमें आचारका दर्शक भी माना

जाता है। तब केवल बाह्य परिणामों से ही उस कर्म को प्रशंसनीय या गर्ह्य मान लेना संभव नहीं। मिलने भी यद्यपि यह स्वीकार किया है कि किसी कर्म की नीतिमत्ता कर्त्ता के भाव अथवा बुद्धि पर पूर्णतया अवलम्बित रहती है परन्तु उन्होंने अपने पक्ष की सिद्धि के लिये यह हठवादिता भी दिखलायी है कि जब तक बाह्य कर्मों में कोई भेद नहीं होता तबतक कर्म की नीतिमत्ता में कोई अन्तर नहीं आता, चाहे कर्त्ता के मन में उस कर्म के करने की भावना कुछ भी हो। मिल की यह युक्ति सर्वथा गलत है और ग्रीन आदि ने इसे निर्मूल बतलाया है और इसका विवेचन ऊपर किया भी जा चुका है कि दो कर्मों के समान होने पर भी भावभेद से उनमें भेद हो जाता है। कर्मों के सात्विक, राजस और तामस भेद मानने का कारण भी यही है। जो कुछ भी हो यह तो मानना पड़ेगा कि आधिभौतिकसुखवादियों का माना हुआ यह परोपकारवाला पक्ष भी नीतिनिर्धारण में योग्य नहीं। यह इसलिये इस नीति निर्णय में अपूर्ण है क्योंकि इसमें यह महान् दोष है कि यह कर्त्ता की बुद्धि या भाव का कोई विचार नहीं करता। इसके साथ ही दूसरा दोष और भी प्रबल हो जाता है जब यह मत इस बात को मान लेता है कि नीति का निर्णय कर्मों के बाह्य परिणाम के अनुसार ही होना चाहिये। इस मत के पास इस प्रश्न का भी कोई समाधान नहीं है कि स्वार्थ की अपेक्षा परार्थ अथवा परोपकार क्यों और कैसे श्रेष्ठ है। इसका विचार न करके ये लोग केवल परार्थ को सत्य मानकर चलते जाते हैं परिणाम यह होता है कि परार्थ की अपेक्षा स्वार्थ की अभिवृद्धि होती जाती है। जब ये लोग यह भी मानते हैं कि स्वार्थ और परार्थ मनुष्य में दोनों ही स्वभाव से हैं तो प्रश्न होता है कि कोई स्वार्थ की अपेक्षा लोगों के सुख को महत्व-

पूर्ण क्यों समझे ? यह समाधान तो इस प्रश्न का सन्तोषप्रद हो नहीं सकता कि वह अधिकांश लोगों के अधिक सुख को देखकर ऐसा करे, क्योंकि मूल प्रश्न ही यह है कि कोई अधिकांश लोगों के अधिक सुख के यत्न क्यों करे ? यह ठीक है कि परार्थ में स्वार्थ भी सन्निहित रहता है इसलिये दोनों का कोई विरोध नहीं खड़ा होता, परन्तु जिस समय विरोध खड़ा हो जावे उस समय प्रश्न ज्यों का त्यों वना रहता है। एतत्पक्षीय स्वार्थ-परार्थ में विरोध खड़े होने पर परार्थ को महत्व देते हैं परन्तु परार्थ कोई स्वार्थ को त्याग कर भी क्यों करे, इसका समाधान इनके पास नहीं है। इस न्यूनता को देख कई आधिभौतिकवादी विद्वान् भी अनुभव करते हैं। एक विद्वान् ने तो इस पर बहुत विवेचन किया है। उसने क्षुद्र जन्तुओं से लेकर मनुष्य तक सब प्राणियों की प्रवृत्तियों की परीक्षा का निश्चय किया है कि इन सब में यही गुण अधिकाधिक बढ़ता और प्रकट होता चला आ रहा है कि ये स्वयं अपने ही समान अपनी सन्तानों और जातियों की रक्षा करते हैं और किसी को दुःख न देते हुए अपने बन्धुओं को यथासंभव सहायता करते हैं। यह प्रवृत्ति वास्तव में सजीवसृष्टि के आचरण का अंग है और इससे यह भावना दृढ़ होती है कि प्राणियों में परस्पर सहायता का गुण प्रधान-नियम है। यह देखा जाता है कि लघु कीट भी अपनी सन्तानों के पालन-पोषण के लिये स्वार्थ त्याग करने में प्रसन्न हुआ करते हैं। यही स्वार्थत्याग का गुण बढ़ते बढ़ते मनुष्य जाति के असभ्य और जंगली समाज में भी इस रूप में पाया जाता है कि लोग न केवल अपनी सन्तानों की रक्षा करने में अपितु अपने जाति भाइयों की सहायता करने में भी सहर्ष प्रवृत्त हो जाते हैं। जब इन प्राणियों की यह स्थिति है तो मनुष्य का तो कहना ही क्या ?

वह तो सृष्टि-कुल चूड़ामणि है। स्वार्थ को छोड़कर परार्थ में सुख मानते हुए उसे स्वार्थ परार्थ के विरोध को समूलोच्छिन्न करने में लगे रहना चाहिए। बस इसी में मानव-जीवन की इतिकर्तव्यता है। आधिभौतिक विद्वानों का यह युक्तिवाद है जो पूर्वोक्त प्रश्न के समाधान में वे प्रयोग करते हैं। भर्तृहरि ने भी कहा है कि दूसरे के उपकार को ही अपना स्वार्थ मानने वाला मनुष्य सज्जनों में अग्रगण्य है। अधिक लोगों का अधिक सुख जिसमें हो वह क्यों किया जावे, इसका समाधान इस युक्तिवाद के अनुसार यह हुआ कि यह तो मनुष्यस्वभाव ही है। अर्थात् अपने स्वार्थ को छोड़कर परार्थ को सिद्ध करना मनुष्य की मनुष्यता ही है। इसके अतिरिक्त इस पक्ष के पास और कोई समाधान नहीं। परोपकार का पक्ष नीति-मत्ता के निर्धारण में एकदेशीय है अतः कुछ आधिभौतिक विद्वानों ने यहां आकर मनुष्यत्व का सहारा लिया।

मनुष्यत्व को नीतिमत्ता का मापदण्ड मानने पर प्रश्न भी उठ खड़ा होता है कि वह मनुष्यत्व क्या वस्तु है। क्या मनुष्यत्व वास्तव में वैसा ही है जैसा आधिभौतिक विद्वज्जन मानते हैं। यदि नहीं तो फिर उनके एतत्सम्बन्धी विचार को अधूरा समझकर वास्तविक तत्व पर पहुँचना पड़ेगा जिससे कि नीतिमत्ता का निर्धारण हो सके। अपने स्वार्थ को छोड़ कर अधिक लोगों के अधिक सुख के कार्य को कोई क्यों करे? इस उत्तर के लिये आधिभौतिक तत्वज्ञ 'मनुष्यत्व' का सहारा तो लेते हैं, परन्तु उनका मनुष्यत्व भी प्रत्यक्षदृश्य ही है। वे परोपकारधर्म की अभिवृद्धि का समावेश तो मनुष्यत्व में करते हैं परन्तु इसके साथी अन्य धर्मों को उसी प्रकार उसमें नहीं देखते हैं। इसीलिये यह प्रश्न उन पर उठता है कि क्या मनुष्यों में केवल परोपकार बुद्धि का ही उत्कर्ष

५

हुआ ? अथवा इसी के साथ उनमें स्वार्थ, बुद्धि, दया, उदारता, दूरदृष्टि, तर्क, शूरता, धृति, क्षमा तथा इन्द्रियनिग्रह आदि अन्य सद्गुणों की भी वृद्धि हुई। इस पर जब तत्वतः विचार किया जाता है तो पता चलता है कि स्वसन्तान के पालन और परस्पर सहायता की वृत्ति का समुत्कर्ष अन्य प्राणियों में भले ही पाया जावे, परन्तु इसके अतिरिक्त अन्य गुणों का भी उत्कर्ष मनुष्यों में अन्य सजीव प्राणियों की अपेक्षा हुआ ही है। तत्वतः इन सभी सद्गुणों के संघात अथवा समुदाय का नाम मनुष्यत्व एवं मानवता है। इस प्रकार विचार से यह ज्ञात हुआ कि परोपकार से भी मनुष्यत्व का दर्जा कहीं ऊँचा है। अतः नीतिनिर्धारण परोपकार की दृष्टि से ही नहीं करना चाहिये बल्कि मनुष्यत्व की दृष्टि से होना चाहिए और वह भी मनुष्य में अन्य प्राणियों की अपेक्षा जिन गुणों का उत्कर्ष है उनको दृष्टि में रखकर। केवल परोपकार करना ही नीतिमत्ता का परम तत्व है, ऐसा न कहकर यह मानना चाहिए कि जो कर्म मनुष्यों के मनुष्यत्व को शोभा दे अथवा मानवता जिसे उचित समझे एवं जिससे मानवता की वृद्धि हो वही सत्कर्म, सदाचार अथवा नीतिधर्म है। मानवता की इस अत्यन्त व्यापक दृष्टि को स्वीकार कर लेने पर अधिकांश लोगों का अधिक सुख उसका एक लघु भाग हो जाता है। मानवता और मनुष्यत्व क्या है इस पर भी सूक्ष्म विचार किये बिना समस्या का समाधान नहीं हो सकता। मनुष्यता के स्वरूप का विचार करते हुए उसमें विद्यमान—स्वार्थ-बुद्धि, दया, उदारता, दूरदृष्टि, तर्क, शूरत्व, धृति, क्षमा और इन्द्रियनिग्रह आदि पूर्वोक्त सभी गुण सामने आ जाते हैं। कई नीतिशास्त्र का विवेचन करने वाले इस समुदायात्मक मनुष्यधर्म को ही आत्मा कह दिया करते हैं। मनुष्यता वास्तव में पूर्वोक्त

धर्मों में है और ये धर्म किसी आश्रय विशेष के बिना रह नहीं सकते। स्वार्थ, तर्क, उदारता आदि धर्म किसी जड़ और ज्ञानशून्य पदार्थ के धर्म तो बन नहीं सकते और न उनमें दया, परोपकार, दूरदर्शिता और नियमनात्मक वृत्ति ही हो सकती है। इनका अधिष्ठान तो कोई ज्ञानवान् चेतन ही हो सकता है और वह भी स्थायी और नित्य। अस्थायी तत्व में नित्य नीतिमत्ता के बीज भूतपूर्व कथित धर्म ठीक नहीं घट सकते हैं। बिना ज्ञान के तर्क की स्थिति नहीं हो सकती और ज्ञान अनित्य का धर्म नहीं। अनित्य का धर्म मानने पर ज्ञान की समस्त समस्याओं का संसार में समाधान नहीं हो सकता है। दया को ही लीजिए, यह अहिंसा और परोपकार धर्म की उपस्थापिका है। यदि यह शरीर आदि किसी अस्थायी वस्तु का धर्म माना जावे तो प्रश्न उठेगा कि इसके वर्तने की आवश्यकता ही क्या? क्योंकि अस्थायी वस्तु शाश्वत तो है नहीं फिर इस भले बुरे का उत्तरदायी कौन होगा। यदि नीति धर्म के सारे नियम शरीर के साथ ही समाप्त होने वाले हैं, बाद में उनका कोई उत्तरदायित्व अथवा उनके भले बुरे परिणामों के प्रभाव की कोई स्थिर वस्तु नहीं तो फिर इनके मानने की आवश्यकता ही क्या है। अतः यह मानना पड़ेगा कि नीति-धर्म के उत्तरदायी को नित्य होना चाहिए। यदि इन मनुष्य-गत धर्मों को नित्य वस्तु का धर्म न माना जावे तो नीतिमत्ता के नियम भी अस्थायी और अनित्य होंगे। वे क्षण क्षण में बदलते रहेंगे। परन्तु नीति के अहिंसा सत्य आदि धर्मों की ऐसी स्थिति नहीं। वे नित्य और शाश्वत माने गये हैं। इसलिये भी नीति धर्म के बीजभूत धर्मों के आश्रय मनुष्यत्व के मूल तत्व को स्थिर और नित्य मानना चाहिए। यह नित्यतत्व आत्मा है, जो शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण आदि के साथ

मिलकर पूर्वोक्त धर्मों को धारण करता हुआ मनुष्यत्व अथवा मानवता का रूप धारण कर रहा है। शरीरेन्द्रिय और अन्तःकरण परिवर्तनशील और विनाशी है। आत्मा अविनाशी और नित्य है। नीतिमत्ता का निर्धारण करते समय केवल शरीर, इन्द्रिय और मन के सुख को लेकर परिणाम नहीं निकालना चाहिये बल्कि मनुष्यत्व के महान् तत्व नित्य आत्मा के सुख आदि का विचार भी ध्यान में रखने चाहिएँ। शरीरेन्द्रिय आदि का सम्बन्ध केवल इसी प्रत्यक्ष लोक से ही है अतः उनके सुख पर निर्धारित नीति धर्म एकदेशीय ठहरेगा। आत्मतत्व नित्य है उसका सम्बन्ध ऐहिक और आमुष्मिक जीवन तथा उद्देश्य से भी है अतः इन सभी बातों का विचार करना आवश्यक है। यदि आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करने वालों की भांति ही आधिभौतिक पंडित मनुष्यत्व के विशुद्ध तत्व इस आत्मतत्व को मानकर नीति का निर्णय करते तो यह महान् दोष जो उनके नीतिमीमांसाशास्त्र में देखा जाता है न रहता। चाहे जो कुछ भी हो इतने विवेचन से हम इस परिणाम पर तो पहुंच ही गये कि आधिभौतिकसुखवादी स्वार्थ, भावीस्वार्थ, उच्चस्वार्थ और परोपकार के सोपानों को लांघते हुए अन्त में मनुष्यता पर आ पहुँचते हैं। अन्तर केवल यही रह जाता है कि वे मनुष्यत्व के विषय में भी प्रायः सब लोगों के बाह्य सुख की ही कल्पना को प्रधानता देते हैं। इस अन्तर के कारण ही उनके पक्ष में पुनः दोष खड़ा हो जाता है। वह दोष यह है कि वे बाह्य सुख की अपेक्षा अन्तःसुख और अन्तःशुद्धि को कुछ महत्व नहीं देते और न इनका विचार ही करते हैं। यह मान भी लिया जावे कि मनुष्य का सारा प्रयत्न सुखप्राप्ति और दुःखनिवारण के लिये है तथापि जब तक यह न निर्णीत हो जावे कि सुख किसमें है—सांसारिक विषय भोग में ही,

अथवा और किसी में—तब तक कोई भी आधिभौतिक पक्ष ग्राह्य नहीं हो सकता। आधिभौतिक पण्डित भी इस पक्ष को स्वीकार करते हैं कि शारीरिक सुखसे मानसिक सुख की महत्ता अधिक है। एक मनुष्य के समक्ष पशु को प्राप्त होने वाले सारे सुखों को रखते हुए यदि पूछा जावे कि क्या वह पशु होने को तैयार है तो स्पष्ट नकार में ही उत्तर मिलेगा। ज्ञानी-जनों को तो इस बात के कहने की आवश्यकता ही नहीं कि तत्वज्ञान के गूढ़ रहस्यों के मनन से बुद्धि में जो प्रसन्नता होती है वह बाह्य संपत्ति और सुखों से सर्वथा कई गुणा योग्यता वाली है। बुद्धि सुख के समक्ष बाह्य सुख तुच्छ पड़जाते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी सोचने की बात है कि लोक में मनुष्य जो कुछ किया करते हैं वह बाह्य सुख को उद्देश्य मान कर उसी के लिये ही नहीं किया करते। बाह्य सुखों की तो वार्त्ता ही क्या, अवसर आने पर लोग जीवन की भी परवाह नहीं करते और सत्य आदि नीति-नियमों की योग्यता को जीवनसे अधिक समझकर जीवनत्याग में भी तत्पर हो जाते हैं। नीतिधर्मों के पालन में बाह्य सुख को प्रधानता न देकर उससे मनोनिग्रह को करने में ही मनुष्य का मनुष्यत्व है। नीति के धर्मों की पालना में बाह्य सुख की लोलुपता का परित्याग कर उससे मनका निग्रह करना चाहिए। मनोनिग्रह मनुष्यता का एक उत्तम तत्व है। यही कारण है कि अध्यात्मविद्या के जिज्ञासु पुत्र, कलत्र, धनधान्य आदि को क्षणिक समझ कर उससे विरक्त रहने में ही श्रेय मानते हैं। संसार के सभी सुखों को ऐसे व्यक्ति प्रेय समझकर श्रेय आत्मसुख को ही उसकी अपेक्षा चुनते हैं। जो मनुष्य यथार्थतः बुद्धिमान् होता है वह प्रेय की अपेक्षा श्रेय को अधिक पसन्द करता है। जिसकी बुद्धि मन्द होती है उसको आत्मकल्याण की अपेक्षा प्रेय

अर्थात् बाह्य इन्द्रिय गम्य विषय सुख ही अधिक अच्छा लगता है। वह इस दैहिक सुख को ही परम उद्देश्य समझता है और जो कुछ करता है वह इस अपने बाह्य आधिभौतिक सुख ही के लिये अथवा दुःखों को दूर करने के लिये ही करता है। हम ऊपर कह आये हैं कि बाह्य सुखों की अपेक्षा बुद्धिगम्य अन्तः आध्यात्मिक सुख ही स्थायी और श्रेष्ठ है। विषयसुख अनित्य है। यह दशा नीतिधर्म की नहीं देखी जाती। सत्य आदि धर्म बाह्य उपाधियों और सुखदुःख पर नहीं आधारित हैं। वे सर्वदा सब अवसरों पर कार्य में एक समान उपयोगी हो सकते हैं। यही कारण है कि वे नित्य माने जाते हैं। यह नित्यता नीतिधर्मों में कहां से आयी और कैसे आयी—अर्थात् इसका प्रधानकारण क्या है? —इन प्रश्नों का समाधान पूर्व दिखलाये गये आधिभौतिकवाद से सर्वथा असम्भव है। यदि बाह्य सृष्टि के सुखदुःखों के अवलोकन से कुछ सिद्धान्त निकाला जावे तो सब सुखदुःखों के स्वभावतः अनित्य होने से उनके अधूरे आधार पर बने हुए नीतिसिद्धान्त भी वैसे ही अनित्य होने और ऐसी परिस्थिति में सुखदुःखों की कुछ परवाह न भी करके सत्य अथवा परार्थ के लिये जीवनोत्सर्ग करने का जो सत्यादि धर्मों की त्रिकालाबाध स्थिति अथवा नित्यता है वह अधिकांश लोगों के अधिक सुख के नियम से सिद्ध न हो सकेगी। भारतीय ऋषियों ने इस गूढ़ तत्व को समझा था और स्पष्ट शब्दों में व्यास ने (महाभारत स्व० ५। ६०; उ० ३९। १२। १३) में घोषित किया कि सुखदुःख अनित्य हैं, परन्तु धर्म (नीतिनियम) नित्य हैं। इस लिये सुख की इच्छा से, भय से, लोभ से अथवा मृत्यु के संकट आने पर भी धर्म को कभी नहीं छोड़ना चाहिए। यह धर्म का आधार जीव नित्य है और सुखदुःख आदि बाह्य विषय अनित्य हैं। भर्तृहरि ने

भी कुछ इसी से मिलती जुलती बात कही है। उनके अनुसार-कोई निन्दा अथवा स्तुति क्यों न करे, धन रहे अथवा चला जावे, आज ही मृत्यु समक्ष उपस्थित हो या कालान्तर से आवे परन्तु धीर और ज्ञानीजन न्यायमार्ग से विचलित नहीं होते। इस प्रकार आधिभौतिकवादियों के नीतिनिर्माणविषयक मानदण्ड का विवेचन कर यद्यपि शाश्वत नीतिधर्म के निर्णय का वास्तविक तत्व स्थापित किया गया परन्तु कुछ थोड़ा-सी अर्ध सच्चाइयां इन वादियों की और भी हैं जिनका निराकरण भी परमावश्यक है। उनका भी थोड़ा सा विचार किया जाता है। आधिभौतिक सुखवादी बाह्य सुख पर ही सारा बल देते हैं और समझते हैं कि नीतिनिर्धारण में यह एकमात्र निर्दोष मार्ग है परन्तु वे संसार की वास्तविक स्थिति का विचार नहीं करते। संसार जहां कर्मभूमि है वहां इसमें सुख और दुःख दोनों हैं केवल सुख ही सुख मिलना इसमें असम्भव है। फिर दुःख को भी देख कर विचार करना चाहिए। दुःख सदा के लिये संसार से नष्ट हो जावे और सुख ही सुख मिलता रहे यदि यह बात संसार में ठीक उतरती होती तो आधिभौतिकवादियों की गाड़ी कुछ आगे चल सकती थी परन्तु अनुभव इसके विपरीत है। संसार में सुख दुःख दोनों हैं और सुख की अपेक्षा दुःख का बाहुल्य है। यदि इस बात का गहराई में बैठने का यत्न किया जावे कि यहां पर सुख अधिक है अथवा दुःख तो मानना पड़ेगा कि दुःख अधिक है। जिस सुख को हम सुख कहते हैं वह भी दुःख से भरा है। वह भी विशुद्ध सुख नहीं–दुःख का मिश्रण है। संसार के प्रत्येक सुख में चार दोष ऐसे पाये जाते हैं जिन से यह सुख भी दुःखाघ्रात समझा जाता है। साधारण व्यक्तियों को इस तथ्य का भान नहीं होता परन्तु विवेकी उसे समझते हैं। ये चारों दोष दार्श-

निक दृष्टि से विचार करने पर निकलते हैं—परिणाम, ताप, संस्कार और संसारी मूलतत्व की परिवर्तनशीलता। संसार के सभी बाह्य सुखों में ये बातें देखी जाती हैं। जब कोई सुख हमें प्राप्त होता है तो वह होता क्या है? केवल भोगों में इन्द्रियों की तृप्ति अथवा उपशान्ति। इस प्रकार दुःख क्या है? भोगों में इन्द्रियों की चपलता से होने वाली अतृप्ति अथवा अनुपशान्ति। पूर्व कहे गये सुखदुःख लक्षणों का एक यह रूपान्तर लक्षण है। यतः इन्द्रियों को भोगाभ्यास से तृष्णारहित नहीं किया जा सकता, इसलिये जब कोई सुख इन्हें प्राप्त होता है तो उसकी अनुकूलता में इन्हें राग उत्पन्न होता है। तथा इन्द्रियों की भोग में प्रवीणता बढ़ती है। इस राग से एक प्रकार की वासना बन जाती है। इन्द्रियों को सुख के साधन में रागज वासना और उस के विरोधी साधन में फिर किसी समय यह छिन न जावे द्वेषज वासना बनती है। सुख की वासना के सदा प्रबुद्ध होने से उसके मार्ग में पड़ने वाली बाधाओं के प्रति द्वेषज वासना उन्हें निवारण के लिये प्रेरित करती है। इस प्रेरणा से वह प्रयत्न करता है परन्तु उनके परिहार में असमर्थ होने पर विमूढ़ हो अनुचित कार्यों को भी कर बैठता है जो उसके लिये भविष्य में एक नये दुःख का जन्म दे देते हैं। इस प्रकार यह सुख परिणामतः दुःख में परिवर्त्तित हो जाता है। सुख में लोभ और मोह का होना स्वाभाविक है। सुख के विरोधी में द्वेष होता है और इस प्रकार द्वेष में बंधे हुए जड़ चेतन साधनों के अधीन ताप अर्थात् दुःख का अनुभव होता है। द्वेषज वासनायें इसमें प्रधान कारण हैं। मनुष्य इसके वश हो दुःख की उपस्थिति काल में सुख की इच्छा करत हुआ किसी की हानि और किसी का अनुग्रह करता है। लेकिन यह कर्म उन वासनाओं से ही होता है जो वास्तव में

लोभ और मोह से हुई हैं। इस प्रकार यह लोभ और मोह से होने वाली वासना ताप दुःख है। सुख के अनुभव से सुख की वासना और दुःखानुभव से दुःख की वासना बनती है। ये वासनारूपी संस्कार सुख और दुःख के प्रति राग और द्वेष पैदा करते हैं। इनसे तदनुरूप ही कर्म पैदा होता है। इन कर्मों से पुनः ऐसे संस्कार बनते हैं। इस प्रकार बराबर एक के बाद दूसरे का अनादि चक्र चलता रहता है। वासना की कभी शान्ति नहीं होती वह सदा भोगेच्छा को बढ़ाती है और भोग से पुनः वासना बनती है, इस प्रकार संसार का चक्र चलता रहता है और सुख भी दुःख रूप में परिणत होता जाता है। यही संस्कार से दुःख का होना है। संसार की प्रत्येक वस्तु चंचल है। उसी प्रकार मनुष्य की सुख और दुःख की वृत्ति भी चंचल है। अभी इस क्षण में किसी वस्तु में सुख प्रतीत हो रहा है, दूसरे समय में वही दुःख देने वाली बन जाती है। वस्तुओं के धर्म चंचल होने से सुख में स्थिरता नहीं रहती। सुखदुःख के रूप में परिवर्त्तित होता रहता है—यह संसार के मूलतत्व की चंचलता का परिणाम है। इस प्रकार विचारने पर संसार दुःख-मय है और उसमें सुख भी दुःख से मिश्रित है—ऐसा परिणाम निकलता है। जब संसार दुःखमय है तो फिर सुख के आधार पर नीतिनिर्धारण किस प्रकार संभव हो सकता है। संसार में दुःख अधिक है इस पर आधिभौतिक पश्चिमी पण्डित यह आक्षेप करते हैं कि यदि संसार में सुख से दुःख ही अधिक होता तो अधिकांश लोग अवश्य ही आत्महत्या कर डालते क्योंकि जब उन्हें यह मालूम हो जाता कि संसार दुःख-मय है तो वे फिर उसमें रहने के झंझट में क्यों पड़ते। चूंकि मनुष्य बहुधा अपनी आयु से नहीं ऊबता इसलिये निश्चयपूर्वक यही अनुमान किया जाता है कि इस संसार में उसे दुःख की

अपेक्षा सुख ही अधिक है और इसी कारण इस सुख को परमसाध्य समझ कर धर्म-अधर्म, कर्म-अकर्म का निर्णय भी किया जाना चाहिए। देखने में यह प्रश्न बहुत जटिल है परन्तु विचार यदि किया जावे तो यह केवल प्रश्नाभास सिद्ध होगा। आत्महत्या का लोकसुख अथवा दुःख के साथ कोई सम्बन्ध नहीं। जहाँ दुःख हो वहाँ मनुष्य आत्महत्या ही कर बैठे यह उदाहरण भी ठीक नहीं। संसार में ऐसे भी लोग हैं जो खाने के लिये भोजन और पहनने के लिये कपड़े नहीं रखते, भूखे और नंगे रह कर जीवन बिताते हुए भी वे आत्महत्या नहीं करते, इससे क्या यह अनुमान बन सकता है कि इनका जीवन सुखी है। विकासवाद के जन्मदाता चार्ल्स डार्विन ने दक्षिणी अमेरिका के कुछ ऐसे जंगली लोगों का वर्णन किया है जो अत्यन्त असभ्य हैं। वे स्त्री पुरुष कठोर जाड़े के दिनों में भी नंगे घूमते रहते हैं, इनके पास अन्न का कुछ भी संग्रह नहीं होता इसलिये इन्हें कभी-कभी भूखों मरना पड़ता है, तथापि इन की संख्या दिनोंदिन बढ़ती जाती है। ये जंगली दुःख सहते हुए भी जान नहीं देते, परन्तु इससे यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता है कि इनका जीवन सुखी है। लोक में कुष्ट रोग से गलितांग, कराहता हुआ भी व्यक्ति आत्महत्या नहीं करता, आत्महत्या करना तो दूर रहा वह अपने जीवन को क़ायम रखने का प्रयत्न करता है परन्तु इससे यह नहीं माना जा सकता कि उसका जीवन सुख में है। क्या कोई आधिभौतिक पण्डित यह कह सकेगा कि इस कुष्टी का जीवन सुखमय है और इसीलिये वह जीवन से आत्महत्या द्वारा पिण्ड नहीं छुड़ाना चाहता। यदि दुःख भोग ही आत्महत्या का कारण होता तो प्रत्येक दुःखी आत्महत्या करता परन्तु लोक इस बात का उदाहरण नहीं। फिर यह भी तो प्रत्येक मनुष्य को

मालूम है कि जो पैदा है वह अवश्य मरेगा। मरने से कोई बच नहीं सकता। मृत्यु किसी दिन इन सारे सुखों को छुड़ा देगी जिनके लिये हम प्रयत्नशील हैं। मौतका दुःख भी कोई थोड़ा नहीं, नाम लेते ही हृदय में भय उत्पन्न हो जाता है। परन्तु यह सब होते हुये भी कोई यह नहीं सोचता कि जब कल मरना है तो आज ही क्यों न आत्महत्या कर ली जावे। जिस प्रकार दुःख के साथ आत्महत्या की कोई व्याप्ति नहीं उसी प्रकार सुख के साथ जीवन धारण का भी कोई सम्बन्ध नहीं दीखता। बहुत से लोग सुखमय जीवन में होते हुए भी दूसरों के हित जीवन छोड़ देते हैं। लड़ाई में लड़ने वाले योद्धाओं को जीवन में जो सुख प्राप्त है उससे वे न निर्विण्ण ही हैं और न मरने में कोई उसमे विशेष सुख ही उन्हें मिलेगा, फिर भी वे सहर्ष प्राण देते हैं,अपने दुःख से दुःखी होकर नहीं देश के लिये और जाति के लिये। मनुष्य जीवन संसार में श्रेष्ठ है। मानव इस बात में ही अपने को परम धन्य मानता है कि "वह पशु नहीं है" मनुष्य है और सब सुखों की अपेक्षा मनुष्य होने का उसका सुख इतना अधिक महत्वपूर्ण है कि वह इसे छोड़ने को तैयार नहीं। इसीलिये वह आत्महत्या नहीं करते यद्यपि संसार दुःखमय होने से दुःख की चोटें उसे लगती रहती हैं। निराश्रित रहने वाले पशु पक्षी भी आत्महत्या नहीं करते तो क्या इससे यह मान लिया जावे कि उनका जीवन सुखी है। मनुष्य-योनि ही इतनी श्रेष्ठ है कि कोई दुःख पड़े या कुछ भी उसे छोड़ने को तैयार नहीं होता। जो लोग कभी-कभी आत्महत्या कर लेते हैं उसका प्रधान कारण उनका आवेश है। उत्साह और आत्मप्रसन्नता से मनुष्य बलिदान करने को तैयार होता है परन्तु आवेग और आवेश में आकर आत्महत्या भी मनुष्य कर लेता है। आवेश में किया गया यह कर्म पाप और

जुर्म समझा जाता है। मनुष्य का शरीर केवल अपना ही नहीं इस पर बहुत सी कृतज्ञतायें लदी हुई हैं। यह समाज की एक धरोहर है अतः इस की हत्या करने वाला पापी समझा जाता है। जब शरीर समाज का है और समाज के हित में उसका उपयोग होना चाहिए, तथा साथ ही साथ मनुष्यता की रक्षा करना मानव का स्वभाव है तो फिर आत्महत्या करने का किसी को अधिकार ही क्या है ?। इसके अतिरिक्त मनुष्य में एक इच्छा स्वाभाविक पायी जाती है। वह यह है कि प्रत्येक मनुष्य की यह आत्माशीः है कि वह सदा बना रहे कभी मरे न। उसकी यह सदा बने रहने की इच्छा उसे सदा स्वभावतः यह प्रेरणा देती है कि वह आत्महत्या न करे। साथ ही इस इच्छा का यह परिणाम भी है कि वह मरना पसन्द नहीं करता। क्यों नहीं करता ? इस लिये कि मृत्यु का दुःख महान् है। मृत्यु का नाम सुनते ही कीड़े से लेकर विद्वान् मनुष्य तक के हृदय में भय उत्पन्न हो जाता है। यह मरणत्रास इस बात का अनुमान दिलाता है कि उसने कभी मृत्यु का दुःख भोगा है और उसका स्मरण कर उससे बचना चाहता है। यह मरणत्रास अभिनिवेश दुःख है। जो बिना अनुभव के हो ही नहीं सकता। किसी वस्तु की स्मृति बिना अनुभव के नहीं होती है। इस जीवन में तो मृत्यु के दुःख का किसी ने अनुभव किया नहीं। फिर यह स्मृति क्यों है। इसका कारण इस परिणाम पर पहुँचाता है कि उसने इस जन्म के अतिरिक्त पूर्व कभी मृत्यु का अनुभव किया है इस-लिये उसे यह स्मृति है और वह मरने से बचना चाहता है। मौत का दुःख संसार के दुःखों में सबसे बड़ा दुःख है इसलिये भी कोई आत्महत्या करना पसन्द नहीं करता। मैं सदा जीवित रहूँ, मरू न, यह भावना मनुष्य में स्वाभाविक होने से उसे आत्महत्या नहीं करने देती। मनुष्य आत्महत्या न करके जीने

की इच्छा करता है। यह इच्छा संसार की प्रवृत्ति का कारण है। यह संसार के सुखमय होने का कोई सबूत नहीं। वास्तव में आक्षेप का समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि आत्महत्या न करने की बुद्धि स्वाभाविक है, वह संसार के सुख दुःखों के तारतम्य से उत्पन्न नहीं है। इसीलिये इस से यह भी सिद्ध नहीं किया जा सकता कि संसार सुखमय है। संसार दुःखमय होने पर भी मनुष्य आत्महत्या नहीं करता क्योंकि उसे यह आशा बनी हुई है कि सुख आज नहीं तो कल मिलेगा। क्योंकि सुख और दुःख दोनों ही क्रमशः आते जाते रहते हैं, इस थोड़े सुख की आशा उसे अधिक दुःखों की थपेड़ खाने पर भी आत्महत्या नहीं करने देती।

एक बात यहां पर और भी विचारने की है कि सुखों के भोग से सुख भोग की इच्छा तृप्त नहीं होती है। मनुष्य इन्द्रियों के सुख का जितना ही उपभोग करता है उसकी भोग-वासना उतनी ही बढ़ती जाती है। वह वासना की तृप्ति न होने से सदा सुख भोग के लिये असन्तुष्ट ही बना रहता है। यदि सारा जीवन सुख भोग में बिता दिया जावे तब भी भोग-वासना शान्त नहीं होती। शरीर जीर्ण होजाता है, आयु समाप्त होती जाती है परन्तु भोगेच्छा अर्थात् तृष्णा जीर्ण नहीं होती। जिस प्रकार प्रज्ज्वलित अग्नि में घी डालने से वह घटती नहीं बढ़ती ही जाती है उसी प्रकार सुखों के उपभोग से विषयवासना की तृप्ति नहीं होती। वह सदा बढ़ती ही जाती है। जब सुख भोग से सुख भोग की वासना तृप्त ही नहीं होती तो फिर उसके लिये उपायान्तर सोचना चाहिए। वह विषयवासना की शान्ति का उपाय मनुष्य का अपने कामोपभोग की मर्यादा बांधना है। यह मर्यादा अर्थात् निग्रह ही विषय वासना से छुड़ा सकता है। अस्तु, जो भी हो, सुख का स्वभाव जब

वासनामय है तब उसके आधार पर नीति-नियमों का निर्धारण कैसे किया जासकता है। जब एक के सुख की वासना को इस जीवन में पूर्ण करना कठिन है तो फिर बहुतों के सुख की वासना का पूरा करना तो अत्यन्त असंभव है और उसके आधार पर धर्म अधर्म का निर्णय सुतराम् असाध्य है। यहां पर कुछ कर्म का ही त्याग सिखाने वाले ऐसा कहते हैं कि तृष्णा से असन्तोष और असन्तोष से दुःख होना है, कर्मों के कार्याकार्य के सोचने की आवश्यकता नहीं, उनका परित्याग ही कर देना चाहिए। जिससे वासना की समाप्ति होकर असन्तोष की जड़ ही उखड़ जावे। संसार में असन्तोष ही अधिक है और इसीलिये दुःख है। वास्तविक सुख सन्तोष में है। जैन और बौद्ध धर्म की नींव ही इसी पर आधारित है। पाश्चात्यदेशों में शोपेनहार जैसों ने संसार की दुःखमयता और इसका बहुत ही सरस वर्णन किया है। परन्तु यह कसौटी भी ठीक नहीं। आग हाथ को जला देती है इसलिये रोटी ही न पकावें, विद्युत् से आदमी की मौत भी होजाती है इसलिए उसका प्रयोग ही न करें, आँख बुरे रूप को भी देखती है अतः निकाल कर फेंक देवें, यह समुचित नहीं। कर्म से वासना और उससे असन्तोष है अतः उसका त्याग होना चाहिए इसमें भी इसी प्रकार बुद्धिमत्ता नहीं है। असन्तोष सर्वत्र दुःख ही पैदा करता है, यह कथन भी ठीक नहीं। यदि रोज़गारी और विद्वान् जितना प्राप्त है अथवा जाना गया है उतने पर ही सन्तुष्ट हो जावे तो भविष्य का सारा पुरुषार्थ ही नष्ट होजावे। केवल सन्तोष लेकर बैठे रहने पर मनुष्य अपने आगे के जीवन के लिये भी प्रयत्नशील नहीं हो सकगा। अतः पुरुषार्थ को कायम रखने के लिये असन्तोष भी आवश्यक है। हां, यह अवश्य है कि असन्तोष की भी कोई मर्यादा निश्चित हो;

यह मर्यादा बांधी जासकती है। अच्छे कार्यों में मनुष्य को सदा असन्तोष ही रखना चाहिए। सन्तोष और असन्तोष का अड़ंगा भी नीतिधर्म के त्यागने के लिये उपयोगी वस्तु नहीं है। इस धारणा को भी प्रशस्त नहीं कहा जासकता। आधिभौतिक-सुखवादियों की विचारधारा में एक बड़ा भारी दोष यह भी है कि वे सुख का निर्णय करते समय मन के कार्य को भूल जाते हैं और उस पर विचार नहीं करते। वस्तुदृष्ट्या इन्द्रियों से अनुभूत होने वाले बाह्य सुख में मन का बहुत बड़ा भाग है। किसी भी इन्द्रिय से होने वाला अनुभव तब तक पूरा नहीं होता, जब तक मन उसके साथ न लगा हो मनुष्य आँख से देखता, कान से सुनता और त्वचा से स्पर्श करता तथा घ्राण से सूंघता है। इन्द्रियों के यह व्यापार जिस मात्रा में इन्द्रियों के स्वाभाविक वृत्तियों के अनुकूल रहते हैं अथवा प्रतिकूल रहते हैं उसी मात्रा में मानव को सुखदुःख हुआ करता है। सुखदुःख का वस्तुसतत्व पूर्व दिखलाया जा चुका है। नियमानुसार बाह्य आधिभौतिक सुख की उत्पत्ति के लिये बाहरी पदार्थों का संपर्क इन्द्रियों के साथ होना प्राथमिक आवश्यक बात है परन्तु विचार करने पर पता चलेगा कि इन इन्द्रियों के स्वाभाविक व्यापार से होने वाले सुखों को जानने अथवा स्वीकार अस्वीकार करने का कार्य मन का है। देखने और सुनने का कार्य केवल आँखों और कानों से ही नहीं हुआ करता अपितु उसमें मन का भी सहयोग रहता है। यदि मन चंचल हो और इन्द्रियों के साथ उसका सम्बन्ध न हो तो इन्द्रियों के व्यापार होते रहने पर भी उनकी बाह्यानुभूति पूरी नहीं होती। मन के विना संपर्क के आँख से देखने पर भी अनदेखा और कान से सुनने पर भी अनसुना हो जाता है। लोक में यह उक्ति चरितार्थ ही है कि मेरा मन अन्यत्र था

इसलिये मैंने नहीं सुना वा नहीं देखा। इस नियम के अनुसार इन्द्रियों से अनुभव होने वाले आधिभौतिक सुखदुःख भी अन्ततः हमारे मन पर ही निर्भर हैं, आध्यात्मिक सुख दुःख का तो कहना ही क्या वह तो है ही मानसिक। जब मन इस प्रकार सुखदुःख में एक प्रधान कारण है तो यह बात सुनिश्चित है कि मन के निग्रह करने से सुखदुःखों के अनुभव का भी निग्रह होना असंभव बात नहीं। इसीलिये यह सिद्धान्त भी इस विषय में ठीक ही है कि सुख अपने मन के अधीन है और दुःख बाह्य वस्तुओं के आधीन रहने में है। मन से सुख का निग्रह जिस प्रकार संभव है उसी प्रकार मन से दुःखों का चिन्तन न करना ही दुःख के निवारण की अमोघ औषधि है। यही कारण है कि मन को दमन कर सत्य तथा धर्म के लिये सुखपूर्वक अग्नि में जलकर भस्म होजाने वालों के अनेकों निदर्शन भारतीय इतिहास में देखे जाते हैं। वह भी तो व्यक्ति ही थे जिन्होंने सिद्धान्त और सत्य की रक्षा में सूली का आलिंगन करना पसन्द किया। इसलिये केवल बाह्य सुखों और फलों को दृष्टि में रखकर ही हमें प्रत्येक कार्य नहीं करना चाहिए बल्कि फलाशा को छोड़कर मनोनिग्रह द्वारा सुखदुःख को समभाव में समझकर प्रत्येक कर्म को करना चाहिए। सुख हो अथवा दुःख हो सब में समबुद्धि रखकर अहंकार का त्याग कर कर्त्तव्य कर्मों को करते जाने में ही भूतहित और श्रेय दोनों हैं। मनुष्यता की सब से ऊँची कसौटी यही है कि मनुष्य सुख में फूल न जावे और दुःख में पिचकर कुप्पे की तरह सिकुड़ न जावे। इन्द्रिय और मन पर दमन कर सुख-दुःख, मानापमान, रागद्वेष, स्वहिताहित का विना विचार किये निष्कामभाव से समबुद्धि हो कर्मों का आचरण करना चाहिए। मानवता के इस महान् तत्व को समझ लेने पर फिर

बाह्य सुखों के आधार पर कर्तव्याकर्त्तव्य के निर्णय का प्रश्न ही नहीं उठता और वह निःसार प्रतीत होने लगता है।

आधिभौतिक सुखवादी पण्डित यदि सुख का विचार करते समय सुख के स्वभाव और उसकी श्रेणियों का विश्लेषण कर नीतिधर्म का विचार करें तो वे जिस परिणाम पर अब पहुँचे हैं उससे उलटे परिणाम पर पहुँचेंगे और आध्यात्मिक विचार-वालों से उनका साम्य स्थापित हो जावेगा। परन्तु ऐसा न करना भी उनकी एक महती न्यूनता है और यह दोष बनकर वर्तमान नीति-मीमांसा शास्त्र में पदे पदे खटकती है। जब यह सिद्ध है कि संसार दुःखमय है। इसमें सुख की अपेक्षा दुःख अधिक है और ये सुख दुःख क्रमशः आते रहते हैं और है ऐन्द्रियक तब यह सोचना पड़ता है कि इनसे भी उत्तम सुख कोई है अथवा नहीं। देखने पर पता चलता है कि पूर्व कहे गये नियमानुसार इन्द्रियसुख बाह्यसुख है उससे अच्छी योग्यता वाला मानसिक सुख है। यह मानसिक सुख इन्द्रिय-सुख से अधिक योग्यता वाला है इस बात को 'मिल' जैसे आधिभौतिक वादी भी स्वीकार करते हैं। प्लेटो ने भी यह माना है कि बाह्यसुखों की अपेक्षा मानसिक सुख श्रेष्ठ है तथा मानसिक सुख की अपेक्षा बुद्धिग्राह्य सुख श्रेष्ठ है। भारतीय दार्शनिक इससे एक पग और आगे बढ़कर कहते हैं कि इन्द्रियजन्य बाह्यसुख से मानसिक सुख श्रेष्ठ है, मानसिक सुख से बुद्धि-जन्य सुख श्रेष्ठ और उससे भी अधिक श्रेष्ठ आत्मसुख है। यह बुद्धिग्राह्य सुख आत्माधीन है जब कि बाह्य सुख बाह्य पदार्थों के अधीन है। इस आत्म-सुख को समझने के लिये उस आत्मा के स्वरूप का विचार करना पड़ता है जिसे मन और बुद्धि के द्वारा बाह्यदृष्टि का और स्वयं उनसे अपनी पृथक्ता का परिज्ञान होता है और जो स्वयं अपने

स्वरूप का ज्ञान रखता है तथा इन सब के प्राकृत होते हुए भी स्वयं अप्राकृत और शाश्वत है । इन्द्रिय से इन्द्रियों के विषय सूक्ष्म हैं, उनसे भी सूक्ष्म मन है । मनसे सूक्ष्म बुद्धि और बुद्धि से भी अत्यन्त सूक्ष्म आत्मा है । ये सभी अनित्य हैं आत्मा नित्य है । यही मियम सुखों के बारे में भी है । सुख के स्वरूप का इस उदात्त दृष्टि से विवेचन करते हुए उसे तीन प्रकार का माना गया है—सात्विक, राजस और तामस । इनमें आधिभौतिक सुख से मन का सुख और उससे भी बुद्धि का सुख श्रेष्ठ है । आत्मिक सुख अत्यन्त श्रेष्ठ है । सात्विक सुख श्रेष्ठ है और वह आत्मा तथा बुद्धि की प्रसन्नता से उत्पन्न होता है । बाह्यसुख क्षणिक होते हैं, आत्मसुख स्थायी होता है । विषय सुख में वह बात नहीं जो आत्म सुख में है । इस आध्यात्मिक सुख को ही श्रेय समझना चाहिए । इसके प्राप्त होने पर बाह्य सुख-दुःख हेय होजाते हैं और दृष्टि में स्वच्छता आजाती है । यह सुख ही मानवजीवन का सार है जिसके प्राप्त होने के अनन्तर परमात्मसुख अथवा मोक्षसुख प्राप्त होता है । मानव के इस उद्देश्य को विचार में रखते हुए नीति अनीति का विचार करना चाहिए, केवल आधिभौतिक सुख की दृष्टि से नहीं । आधिभौतिक पण्डित सुख का अर्थ कभी-कभी सन्तोष किया करते हैं । वे कहते हैं कि अत्यन्तसुख तो सबको किसी भी अवस्था में प्राप्त होना असंभव है अतः जिससे अधिक लोगों को अधिक सन्तोष हो वही सुख है तथा है वह बाह्य और उसी के आधार पर नीतिमत्ता का विचार होना चाहिए । परन्तु यह धारणा भी निर्मूल है । पहले कहा गया है कि शारीरिक सुख से मानसिक सुख अधिक है और इसे आधिभौतिक विद्वान् भी मानते हैं । यदि विषयभोगसुख को ही सन्तोष माना जावे तो यह मानना पड़ेगा कि पशु मानव की

अपेक्षा अधिक सन्तुष्ट हैं। गाय, बैल, सुअर आदि में विषय-भोगजन्य इन्द्रियसुख मनुष्य में लगभग समान होता है। यदि सच्चा सुख विषयभोग ही है और वह भी अधिक सन्तुष्ट होना तो फिर मनुष्य को पशु बनने के लिये तैयार होना चाहिए। क्योंकि पशु उससे अधिक सन्तुष्ट (Satisfied) हैं। परन्तु कोई मनुष्य असन्तुष्ट रहकर भी पशु बनने को राजी नहीं। प्रसिद्ध आधिभौतिक पण्डित मिल ने स्वयं स्वीकार किया है कि असन्तुष्ट रहकर भी मनुष्य रहना ठीक है परन्तु सन्तुष्ट रहकर शूकर बनना नहीं। एक सन्तुष्ट मूर्ख की अपेक्षा असन्तुष्ट होकर भी सुकरात बनना अधिक अच्छा है। यदि मूर्ख और शूकर की धारणा हमारी धारणा से इस विषय में भिन्न है तो इसलिए कि उन्हें अपने अंचल का ही परिज्ञान है। जब मनुष्य असन्तुष्ट होकर भी मनुष्य रहना पसन्द करता है सन्तुष्ट होकर भी शूकर बनना नहीं तो मानना पड़ेगा कि मनुष्य और पशु में कुछ विशेषता है। वह विशेषता यह है कि पशु में विषयभोग-सुख मनुष्य के लगभग समान है परन्तु मन और बुद्धि के शुद्ध व्यापार से होने वाला सुख उसमें नहीं है, जबकि यह उसकी अपेक्षा मनुष्य में विद्यमान पाया जाता है। विषय सुख पशु और मनुष्य दोनों में है परन्तु मानसिक और आत्मिक सुख केवल मनुष्य में ही है। यही इस विषय में पशु की अपेक्षा मानव की विशेषता है जिसके कारण कोई मनुष्य पशु बनने को रज़ामन्द नहीं। वह किसी भी हालत में विषय भोग से होने वाले सन्तोष के लिए इस मानसिक सुख को त्यागने को तैयार नहीं। उसकी यह भावना जो उसकी अपनी विशेषता पर आधारित है स्पष्ट बतलाती है कि आधिभौतिकवादियों की पूर्वोक्त धारणा भी नीति निर्धारण में उपयोगी नहीं। पश्चिमी आधिभौतिक पण्डितों से ऐसा प्रश्न

उठाने पर कि जब सुख ही उद्देश्य है तो जहां दो सुख एक समय उपस्थित होजावें वहां किसको चुनना चाहिए? वे उत्तर देते हैं कि मात्रा का विचार कर अधिक पर ही झुकना चाहिए। इस तरह परिमाण का इनकी दृष्टि में बड़ा महत्व है। परन्तु यह नियम चलने का नहीं, लोग थोड़े सुख के लिये महान् सुख को भी छोड़ देते हैं। मिल साहेब कर्म की अच्छाई बुराई परिणाम से देखते हैं कर्म के स्वभाव से नहीं, परन्तु यह भी उनकी बात एकाङ्गी है। प्रत्येक कर्म परिणाम से नहीं जाना जा सकता। क्योंकि परिणाम भी इनके मत में अनुभव का विषय है स्वाभाविक शुद्ध बुद्धि का नहीं। सांसारिक बुद्धि किसी कर्म के परिणाम के अनुभव के बिना बन नहीं सकती। घातक जब तक फांसी की सज़ा का अनुभव न करले अथवा दूसरे को अनुभव करता देख ले तब तक हत्यारूपी कर्म से वह उसकी औचिती अनौचिती का पता नहीं लगा सकेगा। यदि यह मानदण्ड निर्णय का स्वीकार कर लिया जावे तो मानव जाति आदिम शैशवावस्था में ही समाप्त होजाती। शैशव अवस्था में बच्चा मां का दूध पीता है उसे स्वभावतः यह प्रवृत्ति है। वह यह नहीं जानता कि यह दूध पीना उसके जीवन को धारण करेगा। बच्चे को अभी अनुभव तो कोई है नहीं और दूध पीने रूप कर्म का परिणाम जीवन धारण है, यह भी उसे दिखलायी नहीं पड़ता क्योंकि वह अज्ञ है—फिर यह प्रवृत्ति क्यों? कहना पड़ेगा कि यहां पर कर्म स्वयं स्वभाव से अच्छाई रखता है और वह शुद्ध तथा स्वाभाविक बुद्धि से जाना जाता है। अनुभव से भी किसी वस्तु की सारासारता का ज्ञान होता है और स्वभाव से भी। किसी एक मार्ग को एकान्तिक कहने में दोष सामने आवेगा। लेकिन यह अवश्य है कि कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय व्यवसायात्मिका बुद्धि का विषय है

वासनात्मक बुद्धि का नहीं। अधिभूत-वादियों का सुख भी बाह्य और इन्द्रियजन्य है। इन्द्रियसुख में प्रत्येक के अनुभव में भेद होता है। एक की इन्द्रिय जिसको सुख समझ रही है दूसरे की इन्द्रिय उसी को दुःख समझ बैठती है। किसी को बैंगन अच्छा और किसी को बादी है। किसी को घी अच्छा लगता है और किसी को उससे वमन हो जाता है। इस प्रकार प्रत्येक के सुखों में भेद है। यही बात परिमाण अथवा मात्रा की भी है। मात्रा भी प्रत्येक की अपनी अपनी है। कोई किसी में अधिक सुख मानता है दूसरा उसी में न्यून। इस प्रकार कोई मानदण्ड न बन सकने से सुख की मात्रा पर भी कर्तव्याकर्तव्य का निर्धारण नहीं हो सकता। मिल महोदय ने अपनी पुस्तक में अपने उपयोगितावाद का वर्णन करते हुए जो दुःख के समय में आत्महत्या, कामोन्मत्तता के समय में कामवासना की किसी स्त्री से भी पूर्त्ति, और भूखे रहने के समय में चोरी कर लेने को नीतियुक्त ठहराया है यह भी प्रशस्त नहीं। ये नीतिमत्ता में गर्हित कर्म माने जाते हैं और माने जाने योग्य हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि आधिभौतिक-सुखवादियों का माना हुआ सुखवाद किसी भी प्रकार नीतिनिर्णय में समर्थ नहीं।

इतने विचार के उपरान्त यह देखा गया कि सुख स्वार्थ अथवा परोपकार आदि के आधार पर धर्म और अधर्म का निश्चय नहीं किया जा सकता है। किसी कर्म की नीतिमत्ता सुख और उसकी मात्रा पर निश्चित नहीं है। मनुष्य का सारा कार्य-कलाप सुख के लिये नहीं होता। यह मनोविज्ञान-शास्त्र के विपरीत है कि मनुष्य सुख ही की इच्छा करता है क्योंकि सुख की सारी इच्छायें संसार में पूरी हो ही नहीं सकतीं। ये भी प्रश्न तो नीति-निर्णय के समय उठते हैं और नीति-मीमांसा-शास्त्र में हैं भी ये बड़े महत्त्व के—कि क्या हरएक व्यक्ति

को अपने थोड़े सुख का भी परित्याग कर दूसरे का अधिक से अधिक भला करना ही चाहिए ? मानलिया कि एक आदमी अपने कर्तव्य से न्यून किसी भी अवस्था में नहीं करता परन्तु क्या वह किसी समय उससे अधिक नहीं करता ? क्या नीति के क्षेत्र में कोई ऐसा भी कार्य है जिसे कर्तव्याधिक-करणीय कार्य कहा जावे। कोई व्यक्ति दूसरे के सुखकारी कर्तव्यों का पालन ही अपने सुख को छोड़कर भी क्यों करे ? अथवा नीतिनियमों का पालन ही कोई क्योंकरे ?इत्यादि। इन प्रश्नों के समाधान में यह तो कहा नहीं जासकता कि अपने सुख अथवा दूसरे के सुख के लिये वह मनुष्य करे। हां यह कहा जासकता है कि कर्तव्य को स्वयं में चरितार्थ और उद्देश्य मान कर करना चाहिए। कर्तव्य इसलिये नहीं करना चाहिए कि उसमें सुख है बल्कि इसलिये कि वह स्वयं कर्त्तव्य है और उसका करना ही कर्तव्य है। कर्तव्य को कर्तव्य ही के लिये करना चाहिए किसी बाह्य परिणाम के लिये नहीं। इस भावना से नीति के सिद्धान्त परोपकार और सदाचार आदि स्वयं में एक ऐसे भले कर्म हैं जो सारे उद्देश्यों में परमोद्देश्य और सारी भलाइयों की अपेक्षा महान् भलाई के कर्म हैं। इससे बढ़कर न कोई सुख, न कोई भलाई और न कोई उद्देश्य हो सकता है। इसको अंग्रेजी के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया जासकता है कि Duty or morality or Charecter is an-end-in-itself. अब रही बात यह कि कोई अपने कर्तव्य से अधिक भी करता है ? अथवा नहीं। उत्तर होगा कि कर्तव्य की सीमा संकुचित नहीं है। प्रत्येक को अपने सामर्थ्य के अनुसार कर्तव्यों का पालन करते रहना चाहिए। वह अपनी वर्तमान स्थिति में जितने कर्तव्यों के पालन और जितनेके त्याग की सामर्थ्य रखता है उससे अधिक के पालन और त्याग को

उद्देश्य में रखना चाहिए। कोई व्यक्ति अपने करणीय कर्तव्यों से अधिक नहीं करता लेकिन परिस्थितिविशेष में दूसरे के कर्तव्य उससे जितनी आशा रखते हैं उससे उसे अधिक करना और त्यागना पड़ता है। इस प्रत्याशित कर्म के लिये कर्तव्य-परायणता के अतिरिक्त सुख दुःख का मानदण्ड नहीं प्रयुक्त किया जासकता। करने पर उससे समस्या का हल भी नहीं। आधिभौतिक-सुखवादी सुख की भी परिभाषा अपने मतलब की गढ़ते हैं। वे प्रवृत्ति को तो सुख कहते हैं परन्तु निवृत्ति को उसमें नहीं सम्मिलित करते। इन्द्रियों के व्यापार में सुख समझते हैं परन्तु उनके व्यापारों के निग्रह अथवा त्याग में नहीं। भोग को सुख मानते हैं त्याग को नहीं। संसार को भोग और प्रवृत्ति का साधन तो स्वीकार करते हैं परन्तु उसे अपवर्ग और निवृत्ति का साधन नहीं मानते। यही कारण है कि नीतिविषय में उनका मत अधूरा है। वास्तव में जिस प्रकार भोग और प्रवृत्ति में सुख है उसी प्रकार त्याग और निवृत्ति में भी सुख है। इन्द्रियों के द्वारा व्यापार में यदि सुख है तो उनके व्यापार के निग्रह में उससे अधिक सुख है। संसार जहां भोग और प्रवृत्ति का साधन है वहां वह अपवर्ग और निवृत्ति का भी साधन है। एक अञ्चल को अपनाकर दूसरे के परि-त्याग में सदा दोष ही दोष बना रहेगा। पाश्चात्य-पण्डितों के सुख के लक्षण में यह महती न्यूनता है। भारतीय दार्शनिकों को यह बात पूर्णतया ज्ञात थी और उन्होंने समन्वयात्मक मार्ग का नीति निर्णय में अवलम्बन किया। वे जहां भोग को स्थान देते थे वहां त्याग को उससे भी अधिक महत्व देते थे। वास्तव में भोग और योग की इनकी परिभाषा भी बड़ी मनोज्ञ है। आत्मा जब इन्द्रियरूपी द्वारों से बाह्य जगत् को देखता है तो उसे भोग प्राप्ति होती है और जब वह इन द्वारों की अपेक्षा छोड़कर

अपने को देखता है तब उसे योग कहते हैं। ये भोग और योग, राग और वैराग्य सभी की मर्यादा निर्धारित कर उसके अन्दर उन्हें सुख कहा गया है। जहां इन्द्रियविषयसुख है वहां ज्ञान, धर्म और विषयविरक्ति को उससे अधिक सुख माना गया है। ये दार्शनिक ऐश्वर्य को छः भागों में विभक्त करते हैं। ऐश्वर्य के लिये 'भग' शब्द का प्रयोग होता है। संपूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, संपत्ति, ज्ञान और वैराग्य-ये छः भग शब्द के अभिधेय हैं। जब वैराग्य, धर्म और ज्ञान को ऐश्वर्य के अन्दर गिन लिया गया और सुख में इसका प्रमुख स्थान मान लिया गया तब केवल वाह्य-सुख के आधार पर नीति-मीमांसा की बात ही नहीं रहजाती। दूसरी बात यहां पर यह विचारणीय है कि मनुष्य में विषयसुख की अपेक्षा आत्मसुख के लिये भी भावना है। इसी कारण वह जैसा पहले कहा जा चुका है पशु होना पसन्द नहीं करता जब कि पशु में इन्द्रियों का सारा सुख ज्यों का त्यों विद्यमान है। इस आत्मसुख की विशेषता ज्ञात हो जाने पर यह ही मानना ठीक है कि नीतिनिर्णय में भी यही दृष्टिकोण रखा जावे और केवल आधिभौतिक सुखको उसका मापदण्ड न माना जावे। सर्वभूत-हित, अधिकांश लोगों का अधिक सुख और मनुष्यत्व का परम उत्कर्ष इत्यादि नीतिनिर्णय में सामान्य नियम हैं। जब तक आत्मप्रसादरूपी अत्यन्त सुख और उसी के साथ कर्ता की शुद्ध बुद्धि को ही आध्यात्मिक कसौटी जानकर इस का निर्णय न हो वह व्यापक और सर्वाङ्गीण और विशुद्ध नहीं हो सकता। इसलिये आधिभौतिक-सुखवाद धर्म अधर्म के निर्धारण में समर्थ नहीं, अध्यात्मवाद की शरण लेना उसके लिये परमावश्यक वस्तु है। और इस आध्यात्मिक दृष्टि से ही नीति अनीति का समुचित निर्धारण हो सकता है। भारतीय इस अध्यात्मवाद पर

ही अधिक बल देते थे और अब तो पाश्चात्य विद्वानों को भी यह नीतिनिर्णय में स्वीकार होने लगा है। महाशय ग्रीन, ने स्पष्टतया कार्याकार्यशास्त्र के विवेचन के लिये आध्यात्मिक-दृष्टि को प्रशस्त माना है। महाशय काण्ट ने तो पहले ही इस प्रक्रिया का प्रबल समर्थन किया है और नीतिनिर्णय में इस पर अधिक बल दिया है। कोई दृश्य सृष्टि का कितना ही विचार करे परन्तु जब तक यह ठीक मालूम नहीं हो जाता कि इस सृष्टिका द्रष्टा और कर्म करने वाला कौन है तब तक तत्वतः इस बात का भी निर्णय नहीं हो सकता कि मनुष्य का परम-साध्य श्रेष्ठ कर्तव्य क्या है।

आधिभौतिक दृष्टि से नीतिमीमांसा का विवेचन कर उस की सारासारता का निराकरण किया गया। अब आगे दूसरी अधिदैविक दृष्टि का विचार किया जाता है। नीति और अनीति के परीक्षा करने की यह दूसरी प्रक्रिया अथवा पद्धति आधिदैवतपक्षवालों की है। इसके अनुसार यह माना जाता है कि जब कोई मनुष्य कार्य अकार्य का निर्णय किया करता है तब वह इस झगड़े में नहीं पड़ता किस कर्म से कितना सुख अथवा कितना दुःख होगा। न वह यही देखता है कि इसमें अधिकांश लोगों का अधिक सुख होगा अथवा नहीं। उसे आत्म अनात्म के पचड़े में पड़ने और माथापच्ची करने की ज़रूरत नहीं और यह भी बात है कि ये झगड़े बहुत से लोगों की समझ में भी नहीं आते। ऐसी अवस्था में यह कहना कि अपने ही सुख को दृष्टि में रख कर निर्णय किया जावे, यह तो अत्यन्त गर्हित और अधम बात होगी हां थोड़े से विचार करने पर यह झटिति अवभासित होने लगता है कि वास्तविक विचारणीय बात क्या है। धर्म अधर्म का निर्णय करते समय मन की स्वाभाविक और उदात्त मनोवृत्तियां करुणा,

दया, परोपकार आदि ही किसी कार्य को करने के लिये मनुष्य को अकस्मात् प्रवृत्त किया करती हैं। जब किसी दीन भिखारी का दर्शन होता है, तब विना इस विचार के कि इससे अधिकांश लोगों का अधिक सुख होगा, अथवा नहीं, एवं अपना कितना अधिकतम स्वार्थ सिद्ध होगा, या अपनी आत्मा इससे प्रसन्न होगी या नहीं,---हृदय में स्वभावतः दान करने की करुणावृत्ति जागृत होजाती है और याचक को कुछ दे दिया जाता है। वास्तव में ये उदात्त मनोवृत्तियां ही कर्म-मीमांसा-विज्ञान की आधारशिला हैं। मनुष्य को ये वृत्तियां किसीने दी नहीं अपितु ये निसर्गतसिद्ध स्वयम्-भू देवता हैं। जब कोई न्यायाधीश लोक में न्यायासन पर न्यायार्थ विराजमान होता है, तब उसकी बुद्धि में यह न्यायदेवता प्रेरणा कर दिया करती है और उसी प्रेरणा के अनुसार वह न्याय किया करता है, परन्तु यदि न्यायाधीश इस प्रेरणा का अनादर करता है तभी उससे अन्याय हुआ करते हैं। न्याय के समान ही करुणा, दया, परोपकार, कृतज्ञता, कर्तव्यप्रेम, धैर्य आदि सद्गुणों की जो स्वाभाविक मनोवृत्तियां हैं, वे भी देवता हैं। प्रत्येक मानव निसर्गतः इन देवताओं के स्वरूप से परिचित रहता है। परन्तु यदि लोभ, द्वेष, मत्सर आदि कारणों से वह इन देवताओं की परवाह न करे तो फिर ये देवता बिचारे क्या करें। कभी-कभी ऐसी स्थिति होती है कि इन देवताओं में परस्पर विरोध उत्पन्न होजाता है और ऐसी अवस्था में कोई कार्य करते समय हमें इस की विचिकित्सा उत्पन्न होजाती है कि किस देवता की प्रेरणा को अधिक मानें। इस सन्देह के निर्णयार्थ न्याय, करुणा आदि देवताओं के अतिरिक्त किसी दूसरे का परामर्श लेना आवश्यक जान पड़ता है। ऐसी सन्देहापन्न स्थिति में यदि प्रत्येक मनुष्य अपने मनोदेव की साक्षी ले, तो वह बतला देगा

कि दोनों में इनमें कौनसा मार्ग श्रेयस्कर है। यही प्रधान कारण है कि सभी देवताओं में मनोदेवता श्रेष्ठ हैं। 'मनोदेवता' के अन्दर इच्छा, द्वेष, क्रोध, लोभ आदि का सन्निवेश नहीं करना चाहिए क्योंकि ये मनोविकार हैं। 'मनोदेवता' शब्द से मन की वह ईश्वरप्रदत्त-स्वाभाविक शक्ति ही अभीष्ट है जिससे कि भले बुरे का निर्णय किया जाता है। इसी शक्ति का एक ओजस्वी नाम-सदसद्विवेक-बुद्धि है। इसे ही अन्तःकरण Conscience कहा जाता है और यह पक्ष वास्तव में सभी आधि-दैवतपक्षियों Intuitionist school को मान्य है। ये यह घोषित करते हैं कि यदि किसी सन्देहग्रस्त अवसर पर मनुष्य स्वस्थ अन्तःकरण से और गंभीरता के साथ विचार करे तो यह कभी भी उसको धोखा नहीं देगी, जब कोई महती विचिकित्सा का प्रश्न आजाता है तब हम यही कहते हैं कि "अपने अन्तःकरण से पूछो"। अपने समक्ष यदि यह अवस्था आगयी तो हम कहते हैं कि अमुक कार्य के लिये मेरा अन्तःकरण कहता है, अमुक के लिये नहीं। लोक में भी जब किसी को यह सन्देह हो कि चोरी करना चाहिए या नहीं, तो सज्जन आदमी यही कहता है कि मेरा मन इसके करने के लिये प्रेरणा नहीं देता है। आपत्तिकाल में जहां कभी-कभी उत्तम से उत्तम नीतिसिद्धान्त के पालन में सन्देह हो जाता है वहां भी आपद्धर्म मानकर अमुक का पालन करना चाहिए यह निर्णय भी यह बुद्धि ही देती है। ऐसा इस पक्ष के लोगों का विचार है। कल्पना कीजिए कि कहीं पर महान् दुर्भिक्ष पड़ा है, खाद्य का अभाव है, लोग भूखों मर रहे हैं, उस अवस्था में किसी के सामने अहिंसा और आत्मरक्षा का विरोध उठ खड़ा होवे, भक्ष्य अभक्ष्य में अभक्ष्य भक्षण करना चाहिए अथवा नहीं—यह प्रश्न खड़ा होवे तो यह बुद्धि उसे निर्णय

देगी कि हिंसा करके भी आत्मरक्षा करो और प्राण के रक्षार्थ अभक्ष्य का भी भक्षण करो। इसी प्रकार यदि कभी स्वार्थ और परार्थ का झगड़ा उपस्थित होजावे तो उसकी भी औचिती अनौचिती का निर्णय यह देगी। ऐसा किस प्रकार संभव है कि यह सदसद्विवेकिनी बुद्धि अमुक कार्य भला और अमुक बुरा है—इस प्रकार समस्त भले बुरे कार्यों का वह निर्णय देसके, इस प्रश्न के उठने पर किन्हीं प्रधान आधिदैवतपक्षियों का समाधान है कि इस देवता के पास कार्य-अकार्य, धर्म-अधर्म के कार्यों के बलाबल और प्रशस्तता अप्रशस्तता के विचार को दृष्टि में रखते हुए एक सूची विद्यमान है। महाशय जेम्स मार्टिनो ने अपने 'नीतिवाद के प्रकार' ग्रन्थ में इस सूची को निबद्ध किया है। इस सूची में नम्रतामय पूज्यभाव को प्रथम अर्थात् सर्वोपरि स्थान दिया गया है। उसके पश्चात् करुणा, कृतज्ञता, उदारता और वात्सल्य आदि भावों को क्रमशः नीचे की श्रेणियों में सम्मिलित किया गया है। जेम्स मार्टिनो का विचार है कि जब नीचे की श्रेणियों के उत्तम गुणों में विरोध उत्पन्न हो तो ऊपर की श्रेणियों के सद्गुणों को ही अधिक मान देना चाहिए। कार्य-अकार्य धर्म-अधर्म का निर्णय करने के लिये इसकी अपेक्षा और कोई मार्ग नहीं। अधिकांश लोगों का अधिक सुख जिसमें हो उसी को करना चाहिए--यह मानने पर भी तो यह प्रश्न ज्यों का त्यों रह जाता है कि "हम ऐसा क्यों करें ?" केवल दूरदर्शीस्वार्थ भी यह नहीं कह सकता कि तू ऐसा ही कर। इसलिये सदसद्विवेकिनी-प्रज्ञा ही सारी बातों के निर्णय में समर्थ है--अन्य कोई नहीं। उपकार और दूरदर्शीस्वार्थ आदि की भावना भी तो आखिरकार मानवकृत ही हैं। वे अपना प्रभाव तो उस पर जमा नहीं सकतीं कि

मानव उनके प्रभाव में आकर कार्य करे। इसलिये ऐसे समय पर आज्ञा करने वाला हमसे श्रेष्ठ कोई समर्थ अधिकारी अवश्य होना चाहिए और यह कार्य ईश्वर प्रदत्त सदसद्विवेक-बुद्धि ही कर सकती है क्योंकि वह मनुष्य की अपेक्षा श्रेष्ठ है, अतएव मनुष्य पर अपना अधिकार जमाने में समर्थ है। यह बुद्धि स्वयम्भू देवता है। जब कोई मनुष्य कुछ अनुचित कार्य अथवा पाप कर बैठता है तब पश्चात्ताप करता है और स्वयं लज्जित होता है और उसका मन उसे सदा टोकता रहता है। यह सारा कार्य उपरिकथित देवता के शासन का ही फल है। जब तक अधिदैवत पक्ष के अनुसार यह पूर्वोक्तसिद्धान्त न स्वीकार कर लिया जावे तब तक इसका समाधान नहीं हो सकता कि हमारा मन हमें क्यों टोका करता है। यह कही गयी विचार धारा वास्तव में पश्चिम के आधिदैवत पक्षीय पण्डितों की है। ईसाई धर्मोपदेशकों ने विशेरूप से इसका आश्रय लिया है। इन लोगों के विचार से धर्म—अधर्म का निर्णय करने के लिये केवल आधिभौतिक साधनों की अपेक्षा यह ईश्वरप्रदत्त साधन सुलभ, श्रेष्ठ एवं ग्राह्य है। भारतीय धर्म-ग्रन्थों को, जिनमें कर्म अकर्म का विचार है परिशीलन करने से यह ज्ञात होता है कि भारतीय लोग भी मन को कार्य-अकार्य के निर्णय में साधन मानते थे और परिस्थितिविशेष में अन्त:करण की आवाज़ को प्रमाण भी मानते थे, इन्द्रियों और मन को देवता नाम से कहने की भी परिपाटी थी, परन्तु इस प्रकार का कोई वाद अथवा पन्थ नहीं था। आत्मा के प्रिय अर्थात् अन्त:करण की पवित्र पुकार को मनु ने धर्म का एक लक्षण स्वीकार किया है। प्रसिद्ध कवि कालिदास की उक्ति भी सार्थक है कि सन्देह के उत्पन्न होने पर सज्जनों के अन्त:-करण की प्रवृत्तियें ही प्रमाणभूत होती हैं। विशुद्धमन अथवा

सदसद्विवेकबुद्धि को पूर्वीदार्शनिकों ने जो महत्व दिया है उसका स्वरूप पाश्चात्यों के शुद्ध मनोदेवता से भिन्न है। विशुद्ध अन्तःकरण की आवाज़ को मानते हुए पूर्वी पंडित यह आवश्यक समझते हैं कि उसके स्वरूप पर विचार होना चाहिए। धर्म-अधर्म के निर्णय में यह ही एक मानदण्ड नहीं होसकता और साथ ही प्रत्येक के अन्तःकरण की प्रेरणा एक सी ही होती है, यह भी नहीं कहा जासकता।

आधिभौतिक पक्ष वालों की अपेक्षा यद्यपि आधिदैवत पक्ष इस बात में बहुत ही अग्रगामी है कि वह सदसद्विवेक-बुद्धि को कार्य-अकार्य के निर्णय में प्रधान स्थान देता है परन्तु जब इस बात का विचार करने लगते हैं कि विशुद्ध मनोदेवता कहना किसे चाहिए और उसका वास्तविक स्वरूप क्या है? तो इस पक्ष में भी बहुत से अपरिहार्य दोष उपस्थित हो जाते हैं। मन की वास्तविक स्थिति पर जब विचार किया जाता है तो पता चलता है कि उसका कार्य किसी भी वस्तु के विषय में—वह ग्राह्य है अथवा अग्राह्य, करने योग्य है या नहीं, उससे लाभ है अथवा हानि आदि बातों का निर्णय करना है। चाहे वह इन्द्रिय कहाजावे, या देवता अथवा अन्य किन्हीं शब्दों में लेकिन उसका कार्य इन पूर्वोक्त बातों के निर्णय से ही सम्बन्ध रखता है। आधिदैवतपक्षीय पण्डितों को यह पक्ष इसी सीमा में मान्य नहीं है, वह इससे भी आगे बढ़ा हुआ है। उसकी यह विचार धारा है कि भला अथवा बुरा, न्याय्य अथवा अन्याय्य, धर्म अथवा अधर्म का निर्णय करना एक बात है और कोई पदार्थ भारी है या हल्का है, गोरा है या काला है, एवं गणित का कोई उदाहरण सही है या ग़लत–इसका निश्चय करना दूसरी बात है। ये दोनों स्वभाव में भिन्न-भिन्न एवं अत्यन्त पृथक् हैं। इन दो भिन्न प्रकृति की बातों में पहले प्रकार की बातों का

निर्णय करने में केवल मन असमर्थ है अतएव इनका निर्णय सदसद्विवेकबुद्धि-रूपी देवता ही किया करती है। यह देवता हमारे मन में सर्वदा विद्यमान रहती है। परन्तु दूसरे प्रकार की बातों का निर्णय तर्कशास्त्र का आधार लेकर मन कर सकता है। यह भेद क्यों है ? इसका समाधान करते हुए इस पक्ष के लोग यह कहते हैं कि जब हम गणित के किसी उदाहरण की परीक्षा करके निश्चय करते हैं कि वह सही है अथवा ग़लत है, तब हम पहले उसके गुणन और जोड़ आदि की परीक्षा कर लेते हैं और हम फिर अपना निश्चय करते हैं। इस निर्णय कार्य में मन को निर्णय के पूर्व अन्य व्यापार करना पड़ता है। लेकिन भले बुरे के निर्णय में ऐसा नहीं करना पड़ता-- अकस्मात् स्वभावतः निर्णय समक्ष उपस्थित होजाता है। जब कोई यह सुनता है कि अमुक व्यक्ति को किसी ने मार डाला तब विना कोई विचार किये हुए अकस्मात् मुख से यह निकल पड़ता है कि उसने बहुत बुरा कार्य किया। इसलिये विचार करने के अनन्तर किये हुए निर्णय में और स्वभावतः विना विचार के किये गये निर्णय में अन्तर है। ये दोनों एक ही मनोवृत्ति के व्यापार नहीं हो सकते। इसलिये यही कहना उचित होगा कि सत्य असत्य का विवेचन करने वाली शक्ति एक स्वतंत्र मानसिक देवता है और प्रत्येक मनुष्य के अन्तःकरण में यह शक्ति जागरूक रहती है यही कारण भी है कि हत्या, अनाचार आदि कार्य सभी को बुरे लगते हैं और ऐसे निश्चय में किसी को कुछ सिखलाना भी नहीं पड़ता।

इस आधिदैवतपक्ष को इसके अनुयायी जितना भी प्रांजल कहें, परन्तु प्रयोगात्मक-बुद्धि-वादी आधिभौतिक विद्वान् इसे सदोष मानते हैं और इसके खण्डन में यह युक्तिवाद उपस्थित करते हैं कि–'एक आध बात का निर्णय एकाएक किया

जासकता है—लेकिन इतने ही से यह भव्य भवन नहीं खड़ा किया जासकता है कि विचारपूर्वकनिर्णय की जाने वाली बात उससे भिन्न है। वस्तुतःकिसी कार्य को धीरे करना अथवा जल्दी करना अभ्यास की पटुता पर अवलम्बित है। निदर्शन के लिये गणित का विषय लिया जासकता है। व्यापारी लोग मन का भाव निर्धारित कर, सेर, छटांक, आदि के दाम बतला दिया करते हैं जबकि अच्छे गणितज्ञ को गुणा करके उसी प्रकार का उत्तर देने में विलम्ब लगता है। परन्तु इससे यह नहीं कहा जासकता कि व्यापारी लोगों की गुणा करने की शक्ति अच्छे गणितज्ञ से भिन्न है। कई कार्य अभ्यास की पटुता से झटिति इतनी अच्छी तरह सध जाते हैं कि विना विचार किये मनुष्य उन्हें सरलता से कर लिया करता है। जिसका निशाना सधा हुआ है वह तीरन्दाज़ धनुर्धर, अथवा बंदूकची शब्दवेधी बाण मारता है तथा उड़ते हुए पक्षी को भी अपना निशाना बना लेता है, परन्तु इतने से यह नहीं कहा जासकता कि लक्ष्यभेदन भी एक स्वयम्भू और स्वतंत्र देवता है। कई सेनापति ऐसे हैं कि वे समराङ्गण में विद्यमान हो चारों तरफ़ की प्रगतिका अध्ययन शीघ्रता से कर लेते हैं और शत्रु की कमज़ोरी को आसानी से समझ लेते हैं परन्तु इतने से कोई यह नहीं कहता कि युद्धविद्या भी एक देवता है। किसी एक ही कार्य में किसी मनुष्य की बुद्धि स्वभावतः अधिक काम देती है और दूसरे की न्यून—इस असमानता के आधार पर परस्पर भिन्नता का कोई विशेष सिद्धान्त नहीं खड़ा किया जासकता। इसके अतिरिक्त यह बात भी सत्य नहीं कि कर्तव्य अथवा अकर्तव्य का निर्णय स्वभावतःएकाएक हो जाता है। यदि यह सिद्धान्तभूत बात है-तो अमुक कर्म करना चाहिए किंवा नहीं" यह प्रश्न ही कभी उपस्थित न होता। इसके

अतिरिक्त कार्य अकार्य के विषय में कुछ लोगों के आशय भी भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं। यदि स्वयम्भू देवता ही इसका निर्णायक है और वह भी एक, तो यह भेद क्यों? बहुत से जंगली लोग ऐसे हैं जो मनुष्य का वध करना अपराध नहीं मानते। वे मारे मनुष्य का मांस भी खा जाते हैं। जंगली लोगों की बात तो एक तरफ़ रही, सभ्य देशों में भी यह देखा जाता है कि देश की प्रचलन के अनुसार किसी देश में जो बात गर्ह्य समझी जाती है वही दूसरे देश में मान्य समझी जाती है। वैदिकधर्म में एक स्त्री के साथ विवाह मान्य और दो स्त्री के साथ विवाह गर्ह्य है परन्तु इस्लाम में वही दो स्त्री के साथ विवाह मान्य है। यदि सदसद्विवेचन शक्ति के कारण ही बुरे कर्म करने में स्वभावतः लज्जा मालूम होती है, तो क्या सब लोगों को एक ही कर्म करने में एक ही समान लज्जा नहीं मालूम होनी चाहिए? बड़े बड़े लुटेरे भी एक बार जिसका नमक खा लिया उस पर हथियार उठाना या उसको हानि पहुँचाना गर्ह्य मानते हैं किन्तु बड़े से बड़े सभ्य पश्चिमी देश अपने पड़ोसी राष्ट्र का वध करना स्वदेशभक्ति का लक्षण समझते हैं। यदि सदस-द्विवेचनशक्ति-रूपी देवता सब में एक ही है तो फिर यह भेद क्यों है? यदि शिक्षा और देश के प्रचलन के अनुसार इस देवता में भी भेद होजाया करते हैं तो फिर उसकी स्वयम्भू-नित्यता और स्वतंत्रसत्ता में बाधा आती है। इसलिये यह मानना ही ठीक है कि मनुष्य का एक ही मन सब अवस्थाओं में रहता है। सदसद्विवेचन करने वाला कोई स्वतंत्र देवता नहीं। एक मन की स्वाभाविक शक्तियें ही सभी अवस्थाओं में अपना कार्य करती हैं। जिस मनुष्य का मन अथवा बुद्धि जितनी सुसंस्कृत होती है उतनी ही योग्यतापूर्वक वह किसी कार्य

का निर्णय कर सकेगा। भारतीय शास्त्रकार भी यह मानते हैं कि स्वस्थ और शान्त अन्तःकरण से किसी भी बात का निर्णय करना चाहिए। लेकिन वे यह नहीं मानते कि धर्म अधर्म का निर्णय करने वाली बुद्धि अलग है और काला गोरा का परिचय करने वाली अलग। मन जितना ही सुशिक्षित होगा उतना ही वह भले बुरे का निर्णय कर सकेगा। मन को इसलिये शुद्ध और सुशिक्षित करने का प्रयत्न करना चाहिए, सदसद्विवेक बुद्धि सामान्यबुद्धि से कोई भिन्न वस्तु या ईश्वरीय विचित्र देन नहीं है। वास्तव में जब मन और बुद्धि के कार्य का विचार किया जाता है तो यह अधिदैवत पक्ष भी निस्सार प्रतीत होने लगता है। मन का सामान्यतः व्यवहार ज्ञानेन्द्रियों द्वारा होने वाले बाह्य पदार्थों के अनुभव के संस्कारों को एकत्र करना और परस्पर तुलना कर अच्छे बुरे का निर्णय करना है। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा इस प्रकार बाह्यपदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर उन संस्कारों को तुलना के लिये व्यवस्थापूर्वक रखना और ऐसी व्यवस्था होजाने पर उनके अच्छे अथवा बुरेपन की सारासारता विचार करके निश्चय करना कि कौनसी बात ग्राह्य और कौनसी त्याज्य है। तथा निश्चय होजाने पर ग्राह्य वस्तु प्राप्त कर लेने और अग्राह्य को त्यागने की इच्छा उत्पन्न होकर फिर उसके अनुसार प्रवृत्ति का होना। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि व्यापरत्रय क्रमशः निर्बाध गति से होते ही जावें। इस कार्य को करने वाले को ही सामान्यतः मन शब्द से व्यवहार किया जाता है। इन मनके व्यापारों में सारासार का विचार करके निर्णय करना बुद्धि का कार्य होता है और फिर मन के कार्य पूर्वोक्त दो ही रहजाते हैं। संकल्प-विकल्पात्मक होने से मन का कार्य निश्चय करना नहीं है। निश्चय अध्यवसाय को कहते हैं और यह बुद्धि का कार्य है। इस प्रकार बुद्धि के

व्यापार को मनके व्यापार में से पृथक् कर देने पर मन का कार्य एक पेशकार का रहजाता है जो निर्णय के लिए हाकिम के पास कार्य को पेश करता है। यह मन भी बाह्य पदार्थों के संस्कारों को निर्णयार्थ बुद्धि के पास भेज देता है। विशेष विचार इस विषय में जैसा पहले कहा गया है, इस प्रकार है कि मनुष्य जब किसी ज्ञानेन्द्रिय से किसी बाह्य पदार्थ का प्रत्यक्ष करता है तब उस इन्द्रिय का सम्बन्ध पदार्थ से होता है और इन्द्रिय से अन्दर की तरफ़ मन का सम्बन्ध होता है और मन का सम्बन्ध बुद्धि से तथा बुद्धि आत्मा से सम्बद्ध रहती है। इन्द्रियों की रचना कुछ ऐसी है कि वे एक समय में एक ही पदार्थ का अनुभव कर सकती हैं। दो पदार्थ का ज्ञान एक इन्द्रिय को एक समय में नहीं हो सकता। इसका प्रधान कारण यह है कि मन को एक समय में एक ही विषय का ज्ञान होता है, दो का नहीं। जिस इन्द्रिय के साथ वह सम्बद्ध रहता है, उसका ही विषय पूरा होता है। एक विशेषता इसी आधार पर इन इन्द्रियों में यह भी है कि जहां ये एक समय में दो वस्तुओं को नहीं जान सकती, वहां एक ही समय में दो ज्ञानेन्द्रियाँ भी अपने दोनों पृथक् पृथक् विषय को पूरा नहीं कर सकतीं। परन्तु एक ज्ञानेन्द्रिय और अन्य कर्मेन्द्रियों का एक साथ व्यापार हो सकता है, जैसा कि हम देखते हुए खाते, पीते, चलते हैं। प्रत्यक्ष में होने वाले आत्मा से लेकर इन्द्रियपर्यन्त के व्यापार के क्रम को देखने से पता चलता है कि इन्द्रिय बाह्यपदार्थों का इन सम्बन्धों के होते हुए अनुभव करते हैं, मन अनुभव के संस्कारों को रखकर संकल्प विकल्प करके निश्चयार्थ बुद्धि के पास भेजता है, बुद्धि निश्चय करके आत्मा को दे देती है। आत्मा प्रेप्सा, जिहासा की प्रवृत्ति से बुद्धि को प्रेरित करता

है, बुद्धि मन को और मन पुनः इन्द्रिय को तदनन्तर उसके अनुकूल ही व्यापार होता है। कभी कभी चित्त का चिन्तन करना और अहंकार का बुद्धि के निश्चय पर अभिमान करना आदि कार्य भी इन्हीं क्रमों में अपने स्थान पर कई आचार्य जोड़ते हैं। किसी के अनुसार मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये चारों अन्तःकरणचतुष्टय के नाम से स्वीकार किये जाते हैं और कई आचार्य इन चारों को एक मन की ही वृत्ति मानते हैं। स्थूल और सूक्ष्म क्रम की दृष्टि से विचारने पर दोनों ही प्रक्रियायें ठीक हैं। मन का काम जहां संकल्प और विकल्प के द्वारा विस्तार करना है वहां बुद्धि का कार्य अध्यवसाय होने से उस विस्तार को काट छांट करके यथार्थरूप दे देना है। बुद्धि में और दूसरा कोई गुणधर्म नहीं है। संग्रहात्मक दृष्टि से—संकल्प, वासना, इच्छा, स्मृति, धृति, श्रद्धा, उत्साह, करुणा, प्रेम, दया, सहानुभूति, कृतज्ञता, काम, लज्जा, आह्लाद, भय, राग, द्वेष, लोभ, मद, मत्सर, क्रोध, जन्मान्तरों के संस्कार मन में रहते हैं। जैसी मनोवृत्ति जागरूक होती है, वैसे ही कर्म करने की प्रवृत्ति हुआ करती है। बुद्धि विना मन की सहायता के इन्द्रियों को व्यापार के लिये प्रेरित नहीं कर सकती, परन्तु इसी प्रकार यह भी उतनी ही तथ्यभूत और मार्के की बात है कि इन्द्रियों अथवा मन का कोई भी व्यापार अथवा कार्य बुद्धि के द्वारा सार असार का विना निर्णय हुए नीति की दृष्टि से शुद्ध नहीं कहा जासकता। विना बुद्धि के द्वारा तथ्यातथ्य देश, काल, पात्र का विचार कर निर्णय किये, यदि किसी को कोई दान दे भी दिया जावे तो उसमें दोष की संभावना सदा बनी रह जाती है और यह भी संभव है कि यह दान परिणाम में सर्वथा बुरा हो। बुद्धि के साहाय्य के विना केवल मन की वृत्तियां अन्धी हैं। मनुष्य का कोई भी कार्य,

जो मनोव्यापार के परिणामस्वरूप होता हैं तभी शुद्ध हो सकता है जब कि बुद्धि शुद्ध हो, वह भले बुरे का विना किसी चूक के निर्णय करने में समर्थ हो, और मन भी उस बुद्धि के अनुरोध के अनुसार कार्य करे तथा इन्द्रियां मन के अधीन रहकर तदनुकूल आचरण करें। बुद्धि की शुद्धता से इन्द्रियों के अन्त-र्व्यापार तक की शुद्धता में व्यापार की प्रशस्तता है और उनकी अशुद्ध, अनियंत्रण आदि में उसकी अप्रशस्तता है। बुद्धि एक न्यायाधीश की भांति है और पेशकार रूपी मन से श्रेष्ठ है। जब हम किसी शब्द का उच्चारण करना चाहते हैं तब आत्मा बुद्धि के द्वारा सब बातों का आकलन कर मन में बोलने की इच्छा की प्रेरणा करती है। मन कायाग्नि अर्थात् औदर्य अग्नि को उत्साहित करता है। औदर्य अग्नि वायु को प्रेरणा देती है। वायु कण्ठ आदि देशों से लगकर तदनुसारी ध्वनियों को उत्पन्न करता है। इस तरह कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियों के सभी व्यापार इसी क्रम से हुआ करते हैं। बुद्धि में भी दो प्रकार का भेद कर्मभेद से देखा जाता है एक तो यह कि बुद्धि निर्णय करने वाली इन्द्रिय है और दूसरा यह कि उस इन्द्रिय के व्यापार से मनुष्य के मन में उत्पन्न होने वाली वासना। निर्णय करने वाली बुद्धि जो व्यवसाया-त्मिका बुद्धि है, यही कार्याकार्य के निर्णय में साधन मानी जाती है। इस को ही शुद्ध और स्थिर रखना मनुष्य के लिये उपयोगी है। दूसरी वासनात्मक बुद्धि है जो बुद्धि व्यापार से होने वाली वासना से प्रभावित है। काँट ने भी बुद्धि को शुद्ध अर्थात् व्यवसायात्मकबुद्धि (Pure Reason) और व्यावहारिक अर्थात् वासनात्मकबुद्धि (Practical Reason) भेद से द्वेधा विभक्त किया है। कर्म का निर्णय करते समय कर्म करने वाले की इस वासनात्मकबुद्धि का विचार अवश्य करना

चाहिये। इस प्रकार विचार करने पर पता चलेगा कि जिसकी बुद्धि वासनात्मक है और व्यवसायात्मकबुद्धि शुद्ध पवित्र नहीं है, उसके मन में वासना के प्रभाव से भिन्न भिन्न तरंगे उठती हैं और इसी हेतु से यह नहीं कहा जासकता कि ये वासनायें सदा शुद्ध और पवित्र ही होंगीं। जब कि वासनायें ही शुद्ध नहीं हैं, तब आगे कर्म भी शुद्ध कैसे हो सकते हैं। ये वासना-तरंगें ही मन में विकार पैदा करती हैं और इन्हीं को पुनः चित्तपरिणाम शब्द अथवा चित्तवृत्ति के नाम से व्यवहृत किया जाता है। इन चित्तवृत्तियों का निरोध कर व्यवसायात्मक बुद्धि को शुद्ध और स्थिर रखने के लिये ही पातंजल योगदर्शन में चिंत्तपरिकर्म और योग के साधनों का प्रतिपादन है। यह निर्णीत होजाने पर कि मनुष्य के अन्तःकरण के व्यापार किस प्रकार हुआ करते हैं और उन व्यापारों में मन और बुद्धि के कार्य कौन कौन से हैं, यह विचार होजाने पर अधिदैवत पक्ष वालों का सदसद्विवेक देवता निस्तत्व प्रतीत होने लगता है। इन सब कार्यों का चाहे वे भले हों अथवा बुरे, निर्णय करने वाली बुद्धि एक है तो केवल भले-बुरे का चुनाव करने के लिए पृथक् मनोदेवता के अस्तित्व को मानने की आवश्यकता ही नहीं रहजाती, भले बुरे और सारासार के निर्णय के विषय भिन्न भिन्न हैं परन्तु उनमें तत्वातत्व के विवेचन की क्रिया सर्वत्र एक सी है। अतः उसका निर्णय करने वाली बुद्धि भी एक ही होनी चाहिए। झूठ नहीं बोलना चाहिए, चोरी नहीं करनी चाहिए इन दोनों का तत्वार्थ तो एक ही है। लेकिन निर्णय करने वाली बुद्धि के एक होने पर भी विचारणीय बात यह रह ही जाती है कि अन्ततः है वह भी तो शरीर का अथवा प्रकृति का धर्म। पूर्व कर्म के अनुसार, पूर्वपरम्परागत अथवा आनुषङ्गिक संस्कारों के कारण, शिक्षा एवं अन्य

सत्व, रजस् , तमस् आदि गुणों की कारणता के कारण बुद्धि में भी आधिक्य, न्यूनत्व, सात्विक, राजस और तामस आदि भेद हो सकते हैं। यही एक महान् कारण है कि जो बात एक आदमी की बुद्धि में ग्राह्य जंचती है वही दूसरे की बुद्धि में अग्राह्य दीख पड़ती है। सात्विक और तामसिक आदि बुद्धि के भेदों का लक्षण करते हुए भारतीय दार्शनिकों ने बताया है कि-कौनसा कार्य करना चाहिए और कौनसा नहीं, क्या करने योग्य और क्या अयोग्य, किस बात से भय है और किस बात से नहीं, तथा किसमें बन्धन और किसमें मोक्ष है-इसका निर्णय करने वाली बुद्धि सात्विकी बुद्धि है। धर्म अधर्म, अथवा कार्य अकार्य का यथार्थतः निर्णय जो बुद्धि नहीं कर सकती एवं जिससे इनके निर्णय में भूल हुआ करती है वह राजसी बुद्धि है। अधर्म को ही धर्म बताने वाली, अथवा सभी बातों का विपरीत एवं उल्टा निर्णय देनेवाली बुद्धि तामसी कहलाती है। इस प्रकार बुद्धि के एक होने पर इन पूर्वोक्त हेतुवों से उसके व्यापार में भेद होजाता है। इस व्यापारभेद से निर्णय में भी भेद होजाते हैं। इस सिद्धान्त की सहायता से यह भी भली प्रकार ज्ञात होजाता है कि चोर और साहूकार की बुद्धि में तथा भिन्न भिन्न देशों के मानवों की बुद्धि में भिन्नता क्यों हुआ करती है परन्तु सदसद्विवेचनशक्ति को पृथक् एक स्वयम्भू देवता मानने वालों के मत में इसका समाधान नहीं हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी बुद्धि को सात्विक बनाना चाहिए-क्योंकि तथ्यातथ्य का निर्णय इसीसे हुआ करता है। व्यवसायात्मकबुद्धि को जबतक यह भली प्रकार प्रकट नहीं कि मानव का हित किसमें है तबतक वह इन्द्रियों और मन की इच्छा के अनुसार कार्य करती रहती है और कार्य-अकार्य के विवेचन में असमर्थ तथा अशुद्ध है। उसे

ऐसी अवस्था में शुद्ध बुद्धि नहीं कहा जासकता। चाहिये तो यह कि मन और इन्द्रियां बुद्धि के अधीन रहें और उसके अनुसार कार्य करें। तभी कार्याकार्य का भी निर्णय हो सकता है। वुद्धि का सात्विक होना कर्तव्याकर्तव्य के निर्णयार्थ आवश्यक है और बुद्धि सात्विक वही हो सकती है जो शुद्ध हो। बुद्धि की शुद्धता इन्द्रिय और मन के निग्रह के बिना हो नहीं सकती। जिस समय इन्द्रियों का और मन का निग्रह हो जाता है मानव की बुद्धि आत्म-तत्व में निष्ठा पा लेती है। वह परम आत्मतत्त्व के समीप पहुँचने में भी समर्थ हो जाती है। संसार में सबके हित की चिन्ता, सबके सुख का निर्णय; और उसकी दृष्टि से कार्य-अकार्य का निश्चय करने की एक मात्र निकषा सारे प्राणियों में अपने समान आत्मा को देखना और सबका जीवनोद्देश्य परमात्मतत्व-प्राप्ति है, इसे समझना। विशुद्ध वुद्धि आत्मनिष्ठ होजाती है और परमात्मतत्व की ओर भी अग्रसर होजाती है। वह यह समझने लगती है कि समस्त आत्माओं से परे एक महान् विश्वात्मा की शक्ति भी है जो समस्त संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कार्य अपने संचालनसूत्र में लिए है। बुद्धि के शुद्ध होकर इस प्रकार की बन जाने में मन में रहनेवाले वासना आदि धर्म दूर होजाते हैं और शुद्ध सात्विक कर्मों की ओर इन्द्रियों की सहज प्रवृत्ति होजाती है। उस समय वासनात्मक बुद्धि का वासनाप्राबल्य समाप्त होजाता है। देहेन्द्रियों की यह सहज सात्विक प्रवृत्ति सब सदाचारों और कर्म-मीमांसाशास्त्र का मूल रहस्य है तथा यह पूरा होता है अध्यात्मदृष्टि से। इस बात के निःसार सिद्ध होजाने पर कि सदसद्विवेचनात्मकबुद्धि कोई भिन्न देवता नहीं, वह भी व्यवसायात्मक बुद्धि का ही एक स्वरूप है और वह है सात्विक एवं आत्मनिष्ठता का स्वरूप,

आधिदैवत पक्ष स्वतः गिरजाता है। परन्तु इतना होने पर भी आधिभौतिक व्यावहारिक बुद्धिवादी पण्डित और विशुद्ध-बुद्धिवादी पाश्चात्य पण्डितों का परस्पर बड़ा मतभेद है। वे कर्म-अकर्म के निर्णय के कारण मूलबुद्धितत्व का विचार करते हुए अपनी अपनी तर्कशैली का बड़ी ही वैचिती से प्रदर्शन करते हैं। थोड़ा सा उस पर भी दृष्टिपात करना आवश्यक है। व्यवहारवादी यह कहते हैं कि किसी कर्म की भलाई और बुराई का ज्ञान स्वभावतः नहीं बल्कि उसके ऊंचे नीचे अंचल का विचार करने के उपरान्त अनुभवात्मक अथवा प्रयोगात्मक बुद्धि से निर्णीत होता है। इसके विपरीत विशुद्ध-बुद्धिवादियों का यह विचार है कि कर्म-अकर्म का निर्णय निसर्गतः बिना आगा पीछा सोचे केवल विशुद्ध बुद्धि से ही झटिति होता रहता है। इस विचार-धारा का प्रमुख एक तर्क यह है कि यदि अनुभवात्मक व्यवहारिक बुद्धि के अनुसार ही सब चीजों का निर्णय होने लगे तो मनुष्य तो क्या पशु तक भी दुग्धपान के बिना अपनी शैशवावस्था में ही मर जावें। जब मनुष्य का बच्चा अथवा पशु तो शिशु पैदा होता है-उसे स्वभावतः माता के दूध को मुँह से चूसने की प्रवृत्ति होती है। दुग्ध न पीना रूपी कर्म का परिणाम जीवन से हाथ धोना होगा-यह उसके अनुभव में अभी आया नहीं। पशु के अनुभव में तो जीवन भर में नहीं आने का क्योंकि उसमें प्रयोगात्मक-बुद्धि है ही नहीं। उसे यह भी नहीं मालूम है कि स्तन-पान करने से अमुक लाभ हैं। उसकी यह स्तन-पान-प्रवृत्ति वास्तव में स्वभाव से है और अव्यावहारिक बुद्धि से प्रेरित है, व्यावहारिक से नहीं। इसलिये मानना पड़ेगा कि कर्म-अकर्म का निर्णय विशुद्ध व्यवसायात्मिका बुद्धि से होता है। इसके अतिरिक्त एक व्यक्ति सुरापान करता है। जिसको सुरापान की

आदत है उसे वह प्रभावित नहीं करती। उसकी ज़बान और शक्ति आदि में भी कोई सुरापानजनित हानि के चिन्ह दृग्गोचर नहीं होते। कई व्यक्तियों को थोड़ा भी पीने पर हानि सामने आती है। बहुतों को अधिक पीने पर भी परिणाम कोई सामने नहीं आता। यदि व्यावहारिक बुद्धि ही सब बातों का निर्णय करती है तो मानना पड़ेगा कि परिणाम में बिना हानि देखे वह अनुभव द्वारा सुरापान को हानिप्रद नहीं कह सकती। परन्तु क्या व्यवहारवादी ऐसी अवस्था में यह कह सकते हैं कि सुरापान उसी प्रकार निर्दोष है जैसा की पानी का पीना। क्या सुरापान और पय-पान में कोई अन्तर नहीं रहकर वह पानी का पीना समझा जासकता है। बिना किसी कर्म के परिणाम को जाने व्यावहारिक बुद्धि से किसी कार्य की प्रशस्तता अप्रशस्तता का निर्णय इस पक्ष में कठिन है, परन्तु एक ही कर्म के एक से अधिक परिणाम देखे जाते हैं। उनमें भी एक प्रकट है और कई अप्रकट हैं। यदि अनुभावात्मक कसौटी ही ठीक है तो फिर ऐसे कर्म की औचिती अनौचिती का विचार होना कठिन हो जावेगा। कई कर्म अपने स्वयं के अतिरिक्त कोई परिणाम नहीं प्रकट करते हैं—ऐसे कर्मों को व्यवहार-बुद्धिवादी किस प्रकार निर्णीत कर सकेंगे। इसलिये यह मानना पड़ेगा कि कर्म-अकर्म का निर्णय विशुद्धप्रज्ञा से ही होता है। व्यावहारिक-बुद्धि-वाद के पक्षपाती अपनी उक्तियां देकर अपने पक्ष की सिद्धि करते हैं। वे कहते हैं कि यह ठीक है कि किन्हीं कर्मों का स्वभावतः निर्णय होजाता है परन्तु उतने से ही सिद्धान्त नहीं बनाया जासकता। वह अभ्यास आदि का भी फल होसकता है। सत्य बोलना ठीक है—यह स्वभावतः स्फुरित होजाता है। परन्तु एक बालक बीमार है और सत्य बोलने पर उसकी मृत्यु का भय है, इस हालत में

झूठ बोलने में भी पाप नहीं माना जाता। इस कर्म को हमारी ही तरह विशुद्धबुद्धिवादी भी मानते हैं। परन्तु बीमार बच्चे को सत्य बोलने से खतरा है–यह विशुद्धबुद्धि से स्वभावतः नहीं निर्णीत होता। इसके लिये तो ऊँचे नीचे अंचल और परिणाम के अनुभव से ही कोई समाधान निकाला जासकता है। ऐसी हालत में यह कहना कि विशुद्ध-व्यवसायात्मक बुद्धि से ही सब कर्मों की औचितीं और अनौचितीं का निर्णय स्वभावतः होजाता है–अपनी बात को स्वयं अपने आप काटना है। एक पाठशाला के वर्ग में एक गणित के प्रश्न का उत्तर अनेक बच्चे अनेक प्रकार से देते हैं सब के उत्तर में अन्तर है। सबके उत्तर ठीक हों यह तो ठीक नहीं, ठीक तो उनमें एक ही होगा। अध्यापक गणित के नियम से ठीक को ठीक कहता है। ग़लत को ग़लत। अब यदि कोई लड़का कहे कि अध्यापक महोदय! यह ठीक नहीं मेरा गणित ठीक है और आप जिसे ३६ कहते हैं मेरेमत में वह २५ है तो क्या यह माना जासकता है। कदापि नहीं। इसलिये यह मानना पड़ेगा कि अनुभव और परिणाम को देखकर ही किसी वस्तु का निर्णय किया जासकता है झटिति नहीं। यदि सब कर्मों की औचितीं का निर्णय विशुद्ध-प्रज्ञा का ही स्वभावतः परिणाम है तो एक ही कर्म भिन्न-भिन्न समाजों में उचित और अनुचित नहीं होने चाहिएँ। पुराने समय में जो नीतिनियम स्वीकार किये गये थे आज वे अमान्य क्यों समझे जाते हैं। चोरी करना पहले स्पार्टा के लोगों में और भारत के ठगों में जायज़ था, जब कि अब वह बुरा माना जाता है। बहुविवाह किन्हीं में जायज़ और किन्हीं धर्मों में नाजायज़ है। यदि स्वभावतः व्यवसायात्मकबुद्धि सारे नीतिकर्मों का निर्धारण करती है तो यह भेद और भिन्नता तथा विरोध क्यों है? दो समान नीतिमत्ता के कर्मों में जहां विरोध खड़ा

होता है वहां विना व्यावहारिक बुद्धि के अनुभव को लिये केवल व्यवसायात्मकबुद्धि से उनमें से एक की सारासारता का निर्णय नहीं हो सकता। एक शल्यचिकित्सा-विशेषज्ञ किसी बालक को, जिसके अन्दर कोई प्राणघातक रोग है, इन्जेक्शन देता दिखाई पड़ता है। वह सूई को चुभो रहा है और बालक रो रहा है। सर्जन के इस मांस में सूई चुभाने रूप क्रूर कर्म को देखकर सहसा यह भान हो जाता है कि इसे धक्का देकर कमरे से बाहर कर दिया जावे। परन्तु थोड़ी देर विचार करने पर वही कृत्य ठीक जंचता है और अपना सहसा आया विचार बुरा भासने लगता है। अब यदि पहले झटिति भान होने वाले कर्म को ही नीति मान लिया जावे तो व्यवहार में वह ठीक नहीं—इसलिये किन्हीं थोड़े विषयों को छोड़कर नीतिमत्ता के प्रत्येक कर्म का निर्णय व्यावहारिकबुद्धि से ही होता है। व्यवसायात्मक-बुद्धि को ही कर्तव्य निर्णय में प्रमाण मानने वाले पण्डित इस पर यह कहते हैं कि यह ठीक ही है कि किन्हीं कर्मों का निर्णय परिणाम को देखकर कर होता है परन्तु इस अपवाद से विशुद्धबुद्धिवाद का सिद्धान्त खण्डित नहीं हो सकता। हर एक व्यक्ति यह स्वीकार करेगा कि हेतु और हेत्वाभास, यौक्तिकतर्क और अयौक्तिक तर्क में भेद है, उसे जानना चाहिए, और तत्काल शुद्धबुद्धि से प्रतिभासित भी हो जाता है, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि हर एक व्यक्ति समानरूप से तार्किक अथवा तर्क का निर्णय करने वाला है। वस्तुतः तो यह देखा जाता है कि अतर्कपूर्णविचार वाले विचारवान् तार्किकों की अपेक्षा अधिक हैं। यही बात नीतिमत्ता में भी है कि उसके सिद्धान्तों में बहुत सी ऐसी बातें हैं जो बिना परिणाम के सर्वसाधारण से झटिति जान ली जाया करती हैं। हर एक व्यक्ति परिणाम पर विचार भी नहीं

करता है। नीतिमत्ता के सिद्धान्तों का परस्पर विरोध दिखला कर जो व्यावहारिक-बुद्धिवादी अपना पक्ष सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं यह भी ठीक नहीं। नीतिमत्ता में भी दो प्रकार के नियम पाये जाते हैं। एक है स्वीकारात्मक । विधेयात्मक। और दूसरे नकारात्मक (Positive & Negative) सत्य बोलना, परोपकार, उत्तम आचार आदि विधेयात्मक हैं और असत्य न बोलना, चोरी न करना, हत्या न करना आदि निषेधात्मक हैं। इनमें विभिन्न समाजों अथवा धर्मों में एकही कर्म के प्रति परस्पर विरोध केवल निषेधात्मक नियमों में ही देखा जाता है, विधेयात्मक नियमों में नहीं। व्यवहारवादी केवल निषेधात्मक नियमों की विप्रतिपत्तियों को लेकर जो विशुद्ध प्रज्ञावाद का खण्डन करते हैं यह खण्डनाभास की चतुरायी-मात्र है। वास्तविक नहीं। 'चोरी नहीं करना चाहिए' यह निषेधात्मक नियम है-इसमें दो संप्रदायों की विप्रतिपत्ति हो सकती है और उनमें से एक यह कह सकता है कि समय पर चोरी भी की जा सकती है परन्तु सत्य बोलना चाहिए-इस विधेयात्मक नियम में यह कोई भी नहीं कहता कि सत्य नहीं बोलना चाहिए। निषेधात्मक नियमों में परस्पर का विरोध होते हुए भी विधेयात्मक नियमों में कोई विरोध नहीं पाया जाता है। इसलिए केवल एक पक्ष को लेकर सब का खण्डन भी नहीं किया जासकता है। बहुत सी पूर्वजातियों में प्रचलित बहुत से नियम जहां अनुभव और उपयोगिता के आधार पर अस्वीकार कर दिये गये वहां उन्हीं में से बहुत से अब तक ज्यों के त्यों चले भी तो आरहे हैं और सभ्य समाज उनका पालन करता है। क्या वे अब तक चले आने वाले नियम भी पूर्वोक्त आधार पर समाप्त कर दिये जाने चाहिएँ-कभी नहीं। एक ही समय में कई पत्नियों का रखना अथवा एक पत्नी का रखना-

इस विषय में मुसलमानों का और ईसाइयों का परस्पर वाद-विवाद हो सकता है परन्तु सगी बहन के साथ विवाह न होने के विषय में दोनों सहमत हैं। यदि सब बातें परिणाम पर ही जानी जाती हैं तो इस बात का व्यवहारवादी और अवसर-वादियों के पास कोई उत्तर नहीं है कि समाज के किसी हानि का विषय न होते हुए भी, फ़ायदा भले हो, भाई बहन अथवा पुत्री आदि के साथ विवाह का व्यवहार क्यों नहीं माना जाता। यहां तक कि जंगली जातियां भी इस प्रकार का विवाह नहीं करतीं। यदि सब कुछ उपयोगितावाद ही है तो ऐसी प्रथा के लिए कोई आधार होना चाहिए।

ये युक्तियां प्रत्युक्तियां दोनों वादों की दिखला दी गयीं परन्तु निष्कर्ष से यह ज्ञात होता है कि दोनों पक्षों में किसी सीमा पर सामंजस्य बन सकता है। अवसर विशेष पर शुद्ध-बुद्धिवादी व्यवहार-बुद्धि से कर्म-अकर्म का निर्णय अपवाद रूप में मानते हैं और व्यवहार-बुद्धिवादी किन्हीं अवस्थाओं में अपवादरूप से शुद्धबुद्धिवाद के निर्णय को मानते हैं। अतः दोनों का समन्वय करने के लिये यह ही मानना आवश्यक है कि शुद्धबुद्धि जिसे व्यवसायात्मकबुद्धि कहा जाता है, वही कर्म-अकर्म का निर्णय करती है। परन्तु उसका वासनारहित और आत्मनिष्ठ होना आवश्यक है। उसके शुद्ध होजाने से व्यावहारिक बुद्धि भी शुद्ध होजाती है और उसी के अनुरूप कार्य करने लगती है। बुद्धि की वासना, जिससे कर्माकर्म का निर्णय उल्टा होजाता है, उसका नष्ट होजाना बुद्धिशुद्धता से होता है। इस प्रकार जब यह सिद्ध होजाता है कि आधि-भौतिक पक्ष एकदेशीय तथा अपूर्ण है और आधिदैवत पक्ष की सरल युक्ति भी किसी काम की नहीं तब यह जानना आवश्यक होजाता है कि कर्म-मीमांसा का कोई मार्गान्तर है

अथवा नहीं। यदि मार्गान्तर है तो कौनसा? उत्तर होगा कि वह मार्गान्तर आध्यात्मिक पद्धति है।

ऊपर आधिभौतिक और आधिदैवत पद्धतियों की सारासारता का निर्णय करके यह निश्चित किया गया कि वे इस कर्माकर्म के निर्णय में अपूर्ण हैं। अब थोड़ा सा आध्यात्मिक पद्धति पर विचार किया जाता है—जैसा ऊपर भी कहा गया है—आध्यात्मिक मार्ग ही नीति-निर्णय में श्रेयस्कर है। हम जब अपने शरीर पर विचार करते हैं तो उसमें मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदि को मिलकर कार्य करते पाते हैं, और वह भी आत्मार्थ नहीं दूसरे के लिये। जिसके लिये इनका कार्य होता है वह ही आत्मा नाम की वस्तु है, जिससे बराबर इन के कार्य मिल जुलकर होते रहते हैं। यदि यह शक्ति न हो तो इन सबका मिलजुलकर काम चलता नहीं रह सकता। जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपने कन्धे पर आप नहीं बैठ सकता उसी प्रकार शरीर-संघात में होने वाले कार्य, ज्ञान और भोग का कर्त्ता, ज्ञाता, भोक्ता शरीरसंघात स्वयं नहीं होसकता। संघात स्वयं अपना भोक्ता नहीं, उससे होने वाला भोग किसी अन्य के लिये ही हो सकता है वह भोक्ता जीवात्मा है। शरीर में एक चेतनामयी शरीर से भिन्न शक्ति रहती है जो शरीर से लेकर बुद्धि आदि इन्द्रियों को व्यापार में प्रवृत्त करती है, उनके व्यापारों की एकता को कायम रखती है, उन्हें दिशा का निर्देश करती है, उनके व्यापारों का अनुसंधान करती है, और सभी व्यापारों के परिणामों के प्रति उत्तरदायी होती है। वह शक्ति नित्य और साक्षी रहकर उनसे वस्तुतः भिन्न और अधिक समर्थ है। वास्तव में आत्मा समस्त वस्तुओं की माप है। सारे प्रमाण आदि के व्यवहार उससे प्रवृत्त होते हैं और इनके प्रवृत्त होने से पूर्व उसका अस्तित्व सिद्ध है। वह प्रत्येक इन्द्रिय के

व्यापार में अपने अस्तित्व को दिखला रहा है। मैं देखता हूँ, सुनता हूँ–इस 'मैं और हूँ' का भाव उसके अस्तित्व को बतलाता है। उसका अस्तित्व स्वयंसिद्ध है किसी दूसरे प्रमाण की उसके सिद्ध करने के लिये आवश्यकता नहीं। क्योंकि प्रमाण का भी निर्णय तो उसीसे होगा जो प्रमाण के पूर्व विद्यमान है। जिस प्रकार शरीर में यह आत्मा शरीर का नियंत्रण कर रहा है, उसी प्रकार विश्व में विश्वात्मा विश्व का नियंत्रण कर रहा है। बिना उसके विश्व का नियंत्रण नहीं हो सकता। इस विश्वात्मा को ही परमात्मा आदि नामों से पुकारा जाता है। संसार में सारा प्रकृति का खेल जीवात्माओं के दृश्य के रूप में है। दृश्य का उद्देश्य उनके भोग और मोक्ष दोनों का संपादन करना है। प्रवृत्ति में भोग और निवृत्ति में मोक्ष है। संसार, प्रकृति, जीवों के उससे सम्बन्ध, परमात्मतत्त्व और उसके साथ जीवों का सम्बन्ध तथा जीवों के ऐहिक और आमुष्मिक उद्देश्यों को ध्यान में रख कर ही नीतिमत्ता के नियमों का निर्धारण किया जासकता है। आत्मस्वरूप और उसके प्रकृति और परमात्म-तत्व के सम्बन्धों को देखकर ही इस दिशा में सफलता प्राप्त होसकती है। लौकिक सुख का ही ध्यान देना नीतिनिर्धारण में आवश्यक नहीं—आत्म सुख और उसके द्वारा किये गये इन्द्रियों आदि के व्यापार के लिये उसके उत्तरदायित्व का भी पूरा पूरा ध्यान रहना चाहिए। यही मार्ग नीतिनिर्धारण में प्रशस्त है और आधिभौतिक तथा आधिदैवत पक्ष सर्वथा अपूर्ण हैं। मनुष्य एक ज्ञानवान् प्राणी है। उसको केवल विधियों और नियमों पर सन्तोष नहीं होता। वह तो उनके कारण को जानने की चेष्टा करता है। उसके क्यों? और कैसे? ने ही दर्शन और विज्ञान को प्रोत्साहन दिया। सभी ने उसके क्यों के उत्तर दे नेका प्रयत्न किया परन्तु अभी

विवाद बराबर चलता जा रहा है। वस्तुतः बात तो यह है कि पिण्ड और ब्रह्माण्ड की रचना के विषय में मनुष्य की जैसी समझ होती है उसी तरह नीति-मीमांसा के मूल तत्वों के सम्बन्ध में उसके विचारों का रंग बदलता रहता है। पिण्ड, ब्रह्माण्ड की रचना के सम्बन्ध में कुछ न कुछ निश्चित मत हुए बिना नैतिक प्रश्न ही नहीं उठ सकता। अमेरिकन विद्वान् डाक्टर पाल कोरस ने भी इस पक्ष का समर्थन किया है और नीति निर्धारण में इसे आवश्यक बतलाया है।

तृतीय सोपान

नीति के मूलतत्व

दूसरे प्रकरण में इसके पूर्व नीति के विचार का दार्शनिक विवेचन किया गया और यह परिणाम निकाला गया कि नीति-निर्धारण में आध्यात्मिक-पद्धति ही प्रशस्त है। और नीति के बिना मानव समाज का कल्याण भी नहीं हो सकता। संसार में कोई भी जन्तु क्षणमात्र के लिये बिना कर्म किये तो रह नहीं सकता। मनुष्य एक ज्ञानवान् प्राणी है, अतः उसके लिये सदाचार के सिद्धान्तों का निर्णय करके अपने और समाज के कल्याणार्थ पालन करना आवश्यक है। वे कौनसे नीति-नियम हैं जो मानव के आचार का अंग बनकर उसके वैयक्तिक और सामाजिक, ऐहिक एवं आमुष्मिक उत्थान के कारण बन सकते हैं–उनका यहां पर इस प्रकरण में कुछ विवेचन किया जाता है। विचारपूर्वक देखने पर समास में, न कि व्यास में, कुछ नियमों का निर्धारण किया जासकता है। विस्तार में तो बहुत से नियम हैं परन्तु सब यहां लिखे नहीं जासकते। स्मृतियां इनके संग्रहों से भरी पड़ी हैं। जो मुख्य मुख्य हैं उन पर ही कुछ विचार किया जासकता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरभक्तिपूर्वक कर्म, फल, त्याग, धृति, क्षमा, शम, इन्द्रियनिग्रह, दम=आत्मवशता; बुद्धि का स्थिर रखना; विद्या की प्राप्ति और उसके अनुसार आचरण करना, क्रोध न करना, उदारता, दया, परो-

पकार, दूरदृष्टि, तर्क, शूरता, मानवता, ऐहिक पारलौकिक भावना; और मोक्ष तथा ज्ञान की भावना आदि नीति के नियम हैं जिनका पालन करना चाहिए और इनके विपरीत का पालन नहीं करना चाहिए। इन नीतिनियमों में भी कुछ का मनुष्य के वैयक्तिक उत्थान से सम्बन्ध है चाहे वह ऐहिक अथवा आमुष्मिक या मोक्ष सम्बन्धी ही क्यों न हो, और कुछ का सामाजिक जीवन से सम्बन्ध है। वैयक्तिक उत्कर्ष के नियमों का पालन न करना अपने उत्कर्ष के मार्ग में बाधक है परन्तु सामाजिक नियमों का आचरण न करना पर समाज पर प्रभाव डालता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि का न पालन अपने लिये जहां हानिकारक है वहां उससे अधिक समाज के लिये हानिकारक है। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरभक्ति अथवा कर्मफल का त्याग वैयक्तिक उत्कर्ष के साधन हैं। इनके न पालन से हानि का प्रभाव अधिकांश में अपने ऊपर पड़ता है। इसीलिये अहिंसा आदि को सामाजिक धर्म और शौच आदि को वैयक्तिक धर्म कहा गया है। पूर्व पर समाज की स्थिति और बाद वाले पर व्यक्ति की स्थिति है। एक व्यक्ति यदि सफाई आदि के नियमों का पालन नहीं करता तो उससे होनेवाली हानि का अधिकांश विषय वह स्वयं है। यद्यपि अत्यन्त उग्रता में यह दूसरे पर भी प्रभाव पहुँचा सकता है, फिर भी सम्बन्ध अधिकतर अपने से ही है। परन्तु यदि कोई अहिंसा का पालन नहीं करता तो उसका सीधा प्रभाव समाज और अपने से दूसरे पर पड़ेगा। पहले तो जिसकी हिंसा हुई वह अपने से पृथक् है और दूसरी बात यह कि उसका हानि, लाभ समाज से सम्बद्ध है। यदि कोई व्यक्ति ईश्वर को नहीं मानता और कर्मों के फल के त्याग को नहीं स्वीकार करता तो उसका सम्बन्ध साधारणतया स्वयं की

अवनति से है परन्तु यदि वह ब्रह्मचर्य और अस्तेय का आचरण नहीं करता तो इसका सीधा प्रभाव समाज पर पड़ेगा। लम्पटता का प्रभाव किसी अन्य पर ही घटेगा और समाज में अनाचार बढ़ावेगा। इसी प्रकार चोरी का प्रभाव दूसरे पर ही होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि कुछ धर्म सामाजिक और कुछ वैयक्तिक हैं। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं कि दोनों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं। वैयक्तिक उत्कर्ष के विना सामाजिक उत्कर्ष और सामाजिक उत्कर्ष के विना वैयक्तिक उत्कर्ष असंभव है। ये दोनों परस्पर एक दूसरे से मिले हुए हैं।

इन नीति-नियमों का वादात्मक-अञ्चल जब प्रयोगात्मक स्वरूप लेने लगता है तब समाज और व्यक्ति के उससे सम्बन्ध तथा समाज में उसके भाग के विषय की भावना का उत्थान होता है। मानव एक सामाजिक प्राणी है वह समाज से कभी पृथक् रह नहीं सकता। समाज तब बन सकता है जब मनुष्य कृतज्ञता और अधिकार दोनों का समन्वय कर नीति-नियमों का पालन करे। केवल अधिकार का होना और कृतज्ञता का न होना-मानव को क्रूर, अत्याचारी बना देता है। और केवल कृतज्ञता का होना अधिकार का न होना उसे दास बना देता है। जिसमें अधिकार है कर्तव्य और कृतज्ञता नहीं वह अत्याचारी होता है और जिसमें कृतज्ञता है अधिकार नहीं वह दास बन जाता है। नीति-नियमों का आचरण मनुष्य में कर्तव्य की भावना बनाता है जिससे समाज चलता है परन्तु कोई भी व्यक्ति पेट तो रखता ही है, उसके लिये उसका उससे कर्तव्यानुसार समाज में अधिकार बनता है। परन्तु यह अधिकार समाज के प्रति कृतज्ञता को भी लिये हुए हैं। मनुष्य समाज की इकाई है-वह ही मिलकर समाज को बनाता है। उसके कृतज्ञता, कर्तव्य अधिकार का समन्वय समाज के निर्माण

की नींव है। समाज के उन्नत होने के लिये व्यक्ति की उन्नति आवश्यक है-क्योंकि जैसा व्यक्ति वैसा समाज-इसलिये व्यक्ति को अपना भी उत्कर्ष करना परमावश्यक है। समाज का प्रत्येक प्राणी समान योग्यता और क्षमता का नहीं होता। अतः उससे एक ही प्रकार के कर्तव्य की समाज को आशा नहीं करनी चाहिए। जो समाज ऐसी आशा करेगा वह अधिक चल नहीं सकेगा। समाज में किसी व्यक्ति में मस्तिष्क की योग्यता है वह ज्ञान विज्ञान के कार्य को कर सकता है। कोई केवल लड़ाई और रक्षा के ही कार्य की योग्यता रखता है। किसी में दोनों नहीं-केवल व्यापारिक अथवा आर्थिक योग्यता है और कोई केवल परिश्रम का कार्य कर सकता है। इनमें किसी से भी उनकी योग्यता के विपरीत कार्य लेना समाज को अन्धेर नगरी बनाना है। किसी समाज के लिये है भी चारों चीज़ों की आवश्यकता। कोई समाज मस्तिष्क, बाहुबल, व्यापार और श्रमिक शक्ति के बिना अथवा इनमें से किसी एक के बिना चल नहीं सकता। समाज में ये चारों चीज़ें अत्यन्त जरूरी हैं। ये चारों तभी कारगर हो सकती हैं जब कि उन्हीं की योग्यतानुसार सामाजिक नियमों का पालन उनसे कराया जावे। इनकी योग्यतानुसार समाज के प्रति इनकी कृतज्ञता के नीतिनियमों में अन्तर होसकता है परन्तु आधारभूत नियमों का पालन सभी के लिये अनिवार्य है। चोरी करना मस्तिष्क वाले और सैनिक व्यापारी तथा श्रमिक सभी के लिये अधर्म है। यही बात इन्द्रिय-निग्रह आदि में भी है। कर्तव्य और अधिकार को दृष्टि में रखते हुए समाज में मनुष्य के कर्तव्य बांट दिये गये। भारत में यही वर्णव्यवस्था के रूप में प्रचलित है। पढ़ना, पढ़ाना, धर्म के नियमों, यज्ञ आदि का पालन करना कराना, दान देना और लेना ब्राह्मण का धर्म है। प्रजा की रक्षा, दान देना, पढ़ना,

सदाचार के नियमों का पालन करना, विषयों में न फँसना क्षत्रिय का धर्म है। पशुपालन, सदाचार का आचरण, दान देना, अध्ययन करना, व्यापार करना, बैंकिंग करना और खेती करना वैश्य का कार्य है। श्रमिकवर्ग का कार्य श्रम का करना और समाज के नीति-नियमों का पालन करना है। इनमें सदाचार के नियमों का पालन सभी के लिये अनिवार्य है परन्तु जीविका अर्थात् अधिकार के नियमों अथवा कार्यों में अन्तर है। ब्राह्मण के लिए पढ़ाना, सदाचार का पालन कराना, क्षत्रिय के लिये प्रजा की रक्षा करना; और वैश्य के लिये पशुपालन, खेती व्यापार के कार्य तथा श्रमिक वर्ग के लिये सब प्रकार के श्रम-उनकी जीविकार्थ और समाज-उत्थानार्थ भी हैं। इसी प्रकार व्यक्तिगत उत्कर्ष के लिए आश्रमव्यवस्था की रचना भी की गई। मानव की आयु को न्यूनातिन्यून सौ वर्षों की मानकर उसके चार भाग कर दिये गये। वे चार विभाग-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास हैं। प्रथम में विद्यार्जन और नीति नियमों के पालन की योग्यता का प्राप्त करना होता है। दूसरे में उन्हें समाज में प्रयोगात्मक रूप देना और अपने गृह को संभालकर समाज को अक्षुण्ण रखने के लिए सन्तति उत्पन्न करना और अपने सांसारिक उद्देश्य को पूरा करना है। वानप्रस्थ पुनः त्याग के लिये तैयारी करने और कर्म तथा ज्ञान की योग्यता के लिये है। संन्यास सर्वभूतहित, वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना का प्रसार और अपने आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिये है। इस प्रकार ये चारों आश्रम व्यक्तिगत उत्कर्ष से अधिक सम्बन्ध रखते हैं। इस द्वार से वैयक्तिक रूप में उन्नत हुआ व्यक्ति समाज को भी उन्नत करेगा। इसलिये व्यक्ति और समाज दोनों के उत्कर्ष के लिए ही वर्णाश्रम धर्म की स्थापना की गई। बहुत से देशों और जातियों में यह प्रथा इस रूप में नहीं है

परन्तु मानव-योग्यता के अनुसार चार प्रकार के ही कर्तव्य हो सकते हैं और वे चारों समाज के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं- इसकी उपादेयता अब सभी को प्रतीत होने लगी है।

अहिंसा, सत्य आदि नीति-नियमों का जहां तक सम्बन्ध है उनका पालन प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिए अन्यथा समाज में कोई व्यवस्था रह नहीं सकेगी। जहां इन नियमों के पालन की आवश्यकता है। वहाँ इन कारणों पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। मांस-भक्षण को ही यदि लेलिया जावे तो मांसाहारी व्यक्ति यह कह सकता है कि वह कोई हिंसा स्वयं तो करता नहीं केवल मांस खालिया करता है। परन्तु उसका यह कथन ठीक नहीं माना जा सकता क्योंकि मांस प्राप्ति का साधन और उपकरण क्या है? यह भी तो सोचना चाहिए। जानवर को मारने के बिना तो इसकी प्राप्ति हो नहीं सकती। एक आदमी किसी के घर में चोरी करके अथवा उस घर के निवासियों का कत्ल करके सौ रुपये किसी व्यक्ति को देता है। रुपये देखने में उसकी प्राप्ति के साधन को नहीं बतलाते फिर भी लेने वाला हिंसा और चोरी के पाप से रहित नहीं कहा जासकता। एक दूसरा व्यक्ति किसी कर्मचारी को घूंस देकर कोई ऐसा कार्य साध लेता है जिससे उसके अतिरिक्त कई आदमियों को लाभ है। परन्तु इस लाभ को देखकर ही घूँस देने को उपादेय नहीं कहा जासकता। इसी प्रकार इन्द्रियनिग्रह का विषय भी है। कोई आदमी यदि इन्द्रियों से कोई बुरा व्यवहार नहीं करता और मन से सोच लिया करता है तो वह इन्द्रियनिग्रह करने वाला धर्मात्मा नहीं कहा जासकता। उसे मिथ्याचारी ही कहा जावेगा। क्योंकि इन्द्रियों के व्यापार और अव्यापार का विचार करते समय मन का विचार करना भी परम आवश्यक कार्य है। एक वकील कोर्ट में असत्य भाषण करने में नहीं हिचकिचाता परन्तु यदि वह यह युक्ति देवे कि

उसका यह असत्य भाषण मुअक्किल अथवा जनता के लिये है तो इतने से ही उसका असत्य भाषण नीतिमत्ता का सत्य नहीं माना जासकता। वास्तव में वह अपनी जीविका के लिए झूठ बोलता है। इन सिद्धान्तों के पालन का गहन विचार करते हुए पतंजलि जैसे महा दार्शनिक ने कहा है कि जाति, देश, काल और समय का विना ख्याल किये हुए नीति के इन अहिंसा आदि सिद्धान्तों का पालन करना एक उच्चकोटि का आदर्श है। यदि एक मछुवा या कसाई यह कहे कि उसकी जाति ही हिंसा करने को कहती है; एक बंगाली कहे कि मछली खाना उसके देश का ही व्यवहार है, एक अन्य व्यक्ति कहे कि मौसम ही अथवा दिन ही ऐसा था कि मांस खाया जावे—तो इतने से ही ये कर्म अहिंसा नहीं बन सकते और न सदाचार की कोटि में ही आने योग्य हो सकते हैं। परोपकार करना एक बहुत ही उत्तम कार्य है–परन्तु यदि कोई व्यक्ति राहज़नी, चोरी और क़त्ल करके उससे प्राप्त रुपयों से परोपकार करे और इसकी उपादेयता सिद्ध करे तो यह समुचित नहीं कहा जासकता है। ऐसे परोपकार की आवश्यकता ही क्या है? जिसका कई पाप करके संपादन किया जावे। तात्पर्य यह है कि इन नीति के नियमों का पालन करते समय सभी कारणों और उपकरणों तथा ऊँचे नीचे अंचलों का विचार करके करना चाहिए। विना ऐसा किये केवल बाह्य रूपों से कार्य नहीं चलता। बाह्य रूप में कोई कर्म निर्दोष दिखलाई पड़ता है परन्तु जब उसके अन्दर घुसा जाता है तो वही सदोष मालूम होने लगता है। यदि मानव इन सभी बातों का विचार करके नीतिनियमों का पालन करे तो समाज में कोई खराबी नहीं फैल सकती। समाज को दुर्गुणों से दूर रखने का साधन व्यक्तियों का निर्दोष व्यवहार है। यदि व्यक्ति कोई नीति

विरुद्ध कार्य न करें तो समाज में अनीति के फैलने का कोई कारण नहीं।

पूर्व कहे गये नीतिनियमों में एक अहिंसा को ही ले लिया जावे तो पता चलेगा कि उसके न पालन करने से व्यक्ति और समाज में कितने अनाचार-कर्म फैल गये हैं । समाज जहाँ पल्लवित हो सकता है विशुद्ध नीतिनियमों पर वहाँ आज का समाज उनसे कितना दूर हो रहा है। वर्तमान समाज हिंसा-वृत्ति पर आधारित है-और वह है अहिंसा का न पालन करने से, यदि ऐसा कहा जावे तो अनुचित नहीं। हमारे आर्थिक ढाँचे में भी वर्तमान समय में यही हिंसा की भावना जोर पर है। महात्मा गाँधी की अहिंसा केवल बाह्य अहिंसा ही नहीं। वह समाज और आर्थिक रचना के बारे में भी अपना, एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। हमारे समाज की रचना में और आर्थिक निर्माण में भी अहिंसा ही मूल हो-यह महात्माजी का विचार था। वर्तमान सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को वे इसीलिये बदलना चाहते थे, क्योंकि यह हिंसा पर आधारित है। कोई भी वाद संसार में तब तक कारगर नहीं हो सकता जब तक उसके पृष्ठ-भूमि में कोई दर्शन न हो। अहिंसा एक दार्शनिक मूल्य की वस्तु है और उसका उस दृष्टि से विश्लेषण करके समाज को उत्थान देना चाहिये। मनुष्य प्राप्त वस्तु को देखता है, किस साधन से प्राप्त हुई इस बात को नहीं देखता। बाज़ार में सोना बिक रहा है। खरीदने वाला समझता है कि सोना है वह यह नहीं देखता कि यह सोना कहाँ से आया है और किस साधन से प्राप्त हुआ है। होसकता है कि सोना चोरी से प्राप्त हुआ हो अथवा किसी पथिक का गला घोंटकर लाकर बाज़ार में बेचा गया हो और सोनार ने गलाकर इस रूप में लाकर चमक दमक देकर उसे सर्राफ को दिया हो और सर्राफ

ने अपनी दूकान पर उसे सजाकर रखा हो। मनुष्यता का तक़ाज़ा यह है कि मनुष्य साध्य वस्तु की प्राप्ति के साथ साधन जिससे वह प्राप्त हुई हो उसे भी देखे। जो ऐसा विचार नहीं करता वह पशु के समान ही है। चोरी में आया हुआ, दूसरों को मारकर प्राप्त किया हुई सोना भी तो इन्हीं सर्राफों के यहाँ से बिकता है। एक होटल है, रोज़ उसमें सैकड़ों आदमी दूध का प्याला लेकर पीते हैं। दूध यह नहीं बतलाता कि वह किस प्रकार आया है और दूकान पर बिक रहा है। हर एक आदमी यह विचार भी नहीं करता कि दूध किस रास्ते से आया और आन्तरिक स्थिति क्या है। दूध लिया पैसा दिया और पीकर तारीफ करते चला जाता है। परन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। विचारवान् इस विषय को सोचता है और अन्तस्तल में पहुँचने का प्रयत्न करता है। वास्तविक स्थिति यह है कि जो दूध होटल वाले के यहाँ आया और आठ आने प्याला बिक रहा है वह किस दूध देने वाले से आया है। दूध देने वाले से कम से कम मूल्य पर लिया गया और अपनी दूकान और अपनी जीविका का ख्याल रखकर अधिक से अधिक मूल्य में बेचा जाता है। दूध वाला भी अगर परिवार वाला है तो यह अवश्य चाहेगा और चाहिये भी कि वह उसकी पालना करे। उस पालना के लिये वह अपने बच्चे और परिवार के व्यक्तियों को भी दूध न देकर अधिक से अधिक अपने खरीददार होटल वाले को देगा। वह यह भी चाहेगा कि किसी कृत्रिम साधन से भी यदि गाय दूध दे तो उसका प्रयोग किया जाना चाहिये। बहुत से गाय भैंस रख कर दूध बेचने वालों को देखा गया है कि अधिक दूध निकालने के लिये उन जानवरों की जननयोनि में दण्डा, लकड़ी अथवा कोई ऐसी वस्तु डाल देते हैं कि वह सारा दूध छोड़ देवे। मैंने

लाहौर में ऐसा कार्य अपनी आँखों देखा है। कितने शहरों में गाय भैंस रखने वाले गाय, भैंस खरीदते हैं। जब तक वह दूध देती हैं तब तक रखते हैं। जब वे दूध देना बन्द कर देते हैं तो उन्हें बेच देते हैं, चाहे खरीदने वाला कसाई ही क्यों न हो। यह ऐसा क्यों करते हैं-इसलिये कि एक गाय अथवा भैंस को बच्चा देने में जो दस मास का समय लगता है उतने दिन उसको चारा देने का व्यय न उठाना पड़े। यह आशायें उस दूध देने वाले से भी की जासकती हैं। इन बातों को यदि छोड़ भी दिया जावे तो भी यह तो साधारण है कि दूध देने वाला होटल वाले के पास अधिक दूध पहुँचाकर अधिक पैसा लेने के लिए-बछड़े को भी दूध नहीं देता। दूध न मिलने से बछड़े की जो हालत होती है—वह सभी को ज्ञात ही है। इस प्रकार होटल वाले के पास जो दूध आया और आठ आने प्याला बिक रहा है, है दूध, परन्तु जिस प्रकार बछड़े को न देकर वह लाया गया है उस दृष्टि से विचार करने पर वह उस भूखे बछड़े का रक्त कहा जासकता है। होटल वाले ने दूध वाले का शोषण किया। उसने बछड़े का। दूध वाले से तो गाय का सम्बन्ध है, परन्तु होटल वाले का दूध वाले से ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं। इसलिये होटल वाला जिस दूध को बेचता है और अपना लाभ उठा रहा है वह शोषण पर आधरित है। दूध देने वाला यदि ग्राहकों को सीधा दूध देता तो लेने वालों को सस्ता भी पड़ता। सम्बन्ध लेने वालों और दूध वालों का होता। परन्तु यह सम्बन्ध सीधा न होकर होटल वाले के द्वारा होरहा है। होटल वाला उत्पादक और ग्राहक के बीच में एक तीसरा एजेएट है। उसका सारा कार्य शोषण पर आधारित है और यह शोषण बछड़े के रक्तशोषण तक पर परिणाम पहुँचाता है, जो कि एक प्रकार की हिंसा है। इस दृष्टि से विचार

करने पर पता चलता है कि उक्त दूध हिंसा पर आधारित है। इस हिंसा को विचार कर जब तक हटाया न जावे तब तक समाज में अहिंसा की भावना न पैदा होसकती है और न समाज का कल्याण ही होसका है।

आज की सारी आर्थिक रचना ही शोषण पर आधारित है। आज की पूंजी जितनी अधिक मात्रा में एकत्र है उतना ही उसके पीछे शोषण है। कोयला ज़मीन से निकलता है। वह समाज अथवा राष्ट्र की संपत्ति है। मज़दूर बेचारे परिश्रम करके कोयला निकालते हैं। उनकी मेहनत का बदला उन्हें नाममात्र का मिलता है। ग्राहक को भी कोयला मंहगा ही आकर पड़ता है। क्योंकि मज़दूर और ग्राहक के बीच में एक तीसरी शक्ति खान के मालिक के नाम से बैठी है। उसका न कोई परिश्रम न अधिकार फिर भी शोषण के बल पर वह सब से अधिक पैसा खाती है। यही हाल जमींदार और किसान के मध्य भी है। जमींदार बिना हाथ पैर हिलाये किसानों से पैसे लेकर गुलछर्रे उड़ाता है। वह किसान और सरकार के बीच का एक एजेण्ट है अन्य कुछ नहीं। मिलमालिकों की भी स्थिति शोषण पर आधारित है। वकालत और पत्रकारिता तथा साहित्य-प्रकाशन के क्षेत्र में भी ऐसा ही शोषण है। वकील उल्टा सीधा करके पैसा निकालने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करता। लेखक परिश्रम से पुस्तक लिखता है, प्रकाशक, विक्रेता लेखक को बिना कुछ दिये अथवा नाममात्र का कुछ देकर अपने स्वयं पुस्तक का लाभ उठाता है। पत्रकार की जेब में थोड़ा सा पैसा कठिनाई से जाता है, परन्तु कम्पनी का मालिक मालामाल होता जाता है जबकि उसका कोई परिश्रम नहीं। यह सब कुछ शोषण (Exploitation) का फल है। कृषक अहर्निश अपना रक्त और पसीना एक करके अन्न उत्पन्न करता

है। वह अधिक भाग लगान में देदेता है। जो बचता है वह बेच कर अन्य कार्य को निभाता है। अन्त में उसके पास खाने तक को भी नहीं रहता और वह भूखा मरता है। व्यापारी यह अन्न कृषक से सस्ते भाव में लेता है और उसे एकत्र कर बाज़ार में भाव मंहगे करके बेचता है। किसान भूखा मरता है। ग्राहक भूखे मरते हैं, परन्तु दोनों के बीच का शोषक ब्लेक-मार्केटिंग करके तथा अन्य चालों से मालामाल होता है। यदि कृषक जो अन्न का उत्पादक है उसका और भोक्ताओं का सीधा सम्बन्ध न होता तो सस्ते दामों पर अन्न भी मिलता और कृषक की जेब में पैसा जाता परन्तु अवस्था विपरीत है दोनों मरते हैं, शोषक सुख से बैठा आनन्द उड़ाता है। यह सब कुछ क्यों है-इसलिये कि समाज में शोषण ने प्रमुख स्थान लिया है। शोषण हिंसा है। जब तक इसे हटाकर अहिंसा को स्थान नहीं दिया जावेगा लोग पिसते रहेंगे। ब्लेकमार्केट से वस्तुयें लोग क्रय करते हैं परन्तु विचार नहीं करते कि इसमें शोषण है और कितने गरीबों का रक्त चूस कर यह वस्तु इस अवस्था में आई है। यदि मानव प्राप्य वस्तु के साथ उसके साधन पर विचार करे,-वस्तु की पवित्रता उसके साधन की पवित्रता पर आधारित है, उसकी खराबी उसके साधन पर निर्भर है-इत्यादि बातों को देखकर वर्त्तें तो वह समाज को उच्च उठा सकता है। प्रत्येक वस्तु में उसके प्राप्ति के साधन को देखकर उसे ग्रहण करना मानव का धर्म है-अन्यथा पशु और मानव में भेद ही क्या है?। वर्तमान समाज का आर्थिक ढांचा शोषण पर होने से वह हिंसा पर आधारित है। उसको दूर करना अहिंसा का पालन है। केवल मारने काटने का नाम ही हिंसा नहीं। इतनी दूरदृष्टि अहिंसा के दर्शन में निहित है। इसी दूरदृष्टि पर गाँधी का अहिंसावाद आधारित है।

यह बात अहिंसा की हुई। इसी प्रकार सत्य आदि नीतिनियमों में भी विचार करने की आवश्यकता है। एक मनुष्य किसी वस्तु के लिए असत्य बोलकर उसकी सिद्धि करता है। उसका लाभ कितना भी हो परन्तु जब विशुद्ध-नीति-धर्म की दृष्टि से उसका विचार किया जावेगा तो उस वस्तु को प्रशस्त नहीं कहा जासकेगा। असत्य भाषण के द्वारा जो लोग किसी प्रकार की आय करते हैं वह नीति की दृष्टि से ग्राह्य नहीं। एक पेशकार जिसका काम मुक़द्दमा पेश करना है, लोगों से असत्य व्यवहार से पैसा लेता है। चूँकि उसे न्याय करने वाले हाकिम के कथनानुसार मुक़द्दमे की तारीखें रखनी होती हैं और उनके रखने में वह सरलता से परिवर्तन करता रहता है–क्योंकि किसी हाकिम ने यह तो पूंछना नहीं कि मैंने यह तारीख कही थी तुमने दूसरी क्यों डाल दी। स्मृति भी इतनी नहीं रह सकती। इसलिये किसी की तारीख पहले डालने और किसी की बाद डालने के लिये वह पैसा आसानी से ले लेता है। यह व्यवहार असत्य और बेईमानी का है। अतः इस प्रकार का धन भी असत्य का फल है। इसे कभी भी ग्राह्य नहीं कहा जासकता। कहने का तात्पर्य यह है कि सत्य के विचार में साध्य का ही नहीं बल्कि साधन का भी ध्यान रखना चाहिये।

शौच का नियम बहुत व्यापक है। इसका तात्पर्य बाह्य और आभ्यन्तर शौच दोनों से लिया जाता है। मृत्तिका, जल आदि से शरीर की शुद्धि बाह्य शुद्धि है। सत्यता ज्ञान आदि से अन्तःकरण और बुद्धि आदि की शुद्धि आभ्यन्तर शुद्धि है। परन्तु इनके अतिरिक्त अर्थशौच अथवा अर्थ की शुद्धि भी देखनी चाहिए। पवित्रता और सद्व्यवहार से कमाया हुआ अर्थ थोड़ी मात्रा में भी बेईमानी से कमाये अधिक अर्थ से

मूल्यवान् है। वर्तमान समाज में अर्थ कमाना देखा जाता है परन्तु उसके साधनों की पवित्रता और अपवित्रता का विचार बहुत थोड़े ही लोग करते हैं। जबकि इस बात का ध्यान रखना अत्यन्तावश्यक है। एक ग़रीब की गाढ़ी कमाई का एक रुपये का दान किसी असद्व्यवहार से कमाये हुए धनी के सहस्रों रुपयों के दान से अधिक नैतिक मूल्य रखता है। इसका प्रधान कारण अर्थार्जन के साधन की पवित्रता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जिस प्रकार की कमाई का अर्थ होता है वैसा ही उसके सेवन करने वाले के मन पर प्रभाव पड़ता है। अच्छी कमाई अच्छा प्रभाव डालती है और बुरी कमाई मन पर बुरा प्रभाव डालती है। मनुष्य जो कुछ खाता है उसका पचकर रस बनता है, रस से मांस बनता है, और मांस से पुनः मज्जा तथा उससे भी अस्थि बनती है। उसका सूक्ष्म भाग वीर्य बनता है। वीर्य से पुनः सूक्ष्मता होकर मन बनता है। इस नियम से जिस प्रकार का द्रव्य सेवन किया जावेगा वैसा ही रस, वैसा ही पुनः उससे रक्त और उसके अनुरूप ही पुनः मज्जा और अस्थि आदि बनेंगे। जैसे अस्थि आदि बनेंगे वैसा ही वीर्य और उससे पुनः वैसा ही मन बनेगा। अच्छे और सच्ची कमाई के द्रव्य से शुद्ध मन और बुरी कमाई के तथा बुरे द्रव्य से बुरा मन बनेगा। मन जैसा बुरा भला होगा वैसे ही उससे बुरे भले विचार और कर्म बनेंगे। जैसे कर्म होंगे तदनुरूप ही उनका फल होगा। भीष्म और द्रोण से जब पूछा गया कि आप लोगों जैसे धर्मात्मा दुर्योधन के साथ होकर पाण्डवों से क्यों लड़ते हैं तो उन्होंने यही उत्तर दिया कि यह दुर्योधन के अन्न का प्रभाव है। इसलिये अर्थ शौच एक परमावश्यक नीतिकर्म है। यह अन्तः-करण की पवित्रता का भी आधार है। इस सूक्ष्मदृष्टि को लेकर ही भारतीय दार्शनिक लोगों ने अर्थ अथवा धन को भी

एक महान् अनर्थ बताया है। चोरी, हिंसा, झूठ, दम्भ, काम, क्रोध, गर्व, मद, भेदभाव, वैर, अविश्वास, स्पर्धा और बुरे व्यसन आदि ये पन्द्रह अनर्थ अथवा अनीतियें धनमूलक हैं। इसलिए धन को भी मनुष्य को एक अनर्थ समझकर उससे नीतिमत्ता के साथ वर्तना चाहिए। धन का उपयोग सत्कर्मों के लिये है और उसका अर्जन इसी उद्देश्य से सद्व्यवहार के साथ करना चाहिए। अन्यथा ये पंचदश दोष जो नीतिधर्म के परम विरोधी तत्व हैं—अवश्य संभव हैं और वर्तमान मानव समाज इनसे आघ्रात है। इस प्रकार साध्य के साथ साधन की पवित्रता और पूर्व कहे देश काल आदि प्रतिबन्धों का न विचार करते हुए अहिंसा आदि नीति नियमों का पालन करना नीतिमत्ता है। विपरीताचरण अनीति है।

———

चतुर्थ सोपान

नीति में आपद्धर्म का स्थान

विशुद्ध नीति-नियमों का विवेचन पूर्व किया गया। उनका देश, काल और जाति आदि के प्रतिबन्धों से रहित होकर सार्वभौम पालन करना महाव्रत एवं आदर्श-सदाचार है। आदर्श से बढ़कर और कोई दूसरी स्थिति नीतिधर्म में सार्वभौम स्थान नहीं प्राप्त कर सकती परन्तु जनसाधारण को भी उसी लाठी से हाँकने पर भी व्यवहार में कुछ अन्तर अवश्य आजाता है। देश काल के अनुसार नीतिधर्मों के व्यवहार में थोड़ा अन्तर अवश्य पड़जाता है। लेकिन वह अन्तर अवश्य डाला जावे ऐसा कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं। फिर भी यह अवश्य कहना पड़ेगा कि किन्हीं किन्हीं विशेष स्थितियों और अवसरों पर विद्वान् से विद्वान् नीतिज्ञ के सामने यह प्रश्न उपस्थित होजाता है कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं। कभी कभी परिस्थिति की जटिलता में ज्ञानी से ज्ञानी को भी किंकर्तव्य-विमूढ़ होना पड़ता है। भारत में गीता और योरुप में हैमलेट, तथा कोरियोलेनस नाटकों की रचना का उद्देश्य किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता की स्थिति को सुलझाने का ही है। भारत देश में महाभारत ग्रन्थ में ऐसे कर्तव्य-व्यामोह में फँसने के अनेकों उदाहरण भरे हैं। नीतिधर्मों के पालन में जब कोई महाव्यामोह उपस्थित होजावे तो ऐसी ही स्थिति के लिये कई नीतिकारों ने यह कहा है कि श्रुतियों और स्मृतियों में भिन्नता दिखाई पड़ने

पर किसी भी मुनि का वचन प्रामाणिक रूप से न मिलने पर उसी का पालन करना चाहिए जो महापुरुष करते हों। परन्तु इतने से भी प्रश्न का समाधान नहीं होता। महापुरुष भी तो आदर्शवादी और व्यवहारवादी भेदों वाले होते हैं। उनके अनुसरण में भी आदर्शवाद और व्यवहारवाद का प्रश्न फिर भी बना ही रह जाता है। कोई यह प्रश्न उठा सकता है कि हमें इतने गूढ़ विचार में पड़ने की क्या आवश्यकता। मनु, याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकारों ने तो नीतिनियमों के संग्रह कर ही दिये हैं। साथ ही किनका किस अवस्था में किस प्रकार पालन करना चाहिए—यह भी बतला दिया है। परन्तु यह ठीक नहीं—क्योंकि स्मृतियों में सभी कर्तव्याकर्तव्यों का निर्णय दिया गया हो ऐसा नहीं—कहीं पर सामान्य नियमों का ही पालन करने का विधान बतला दिया गया है। स्मृतियों में—किसी की हिंसा मत करो; नीति से चलो, सत्य बोलो, बड़ों और गुरुजनों का सन्मान करो; चोरी और व्यभिचार मत करो—इत्यादि सामान्य-धर्मों का उपदेश मिलता है। लेकिन जब ऐसी अवस्था आजाती है कि "इसे न करो" और "हाँ करो" का संकट आजावे और 'हाँ करो' में 'न करो' तथा 'न करो' में 'हाँ करो' का प्रश्न ही प्रशस्त दिखलाई पड़ने लगे अथवा इन में ही महान् सन्देह पैदा होजावे तो उस अवस्था में क्या करना चाहिए ?—यह प्रश्न ज्यों का त्यों बना रहता है। दूसरी बात यह भी है कि जब तक संसार में सभी लोग स्मृतिकारों द्वारा कहे गये अहिंसा आदि नीतिनियमों का पालन नहीं करने लगते तब तक क्या सज्जन लोग इन दुष्टव्यवहार वालों के आखेट बनते रहें। अथवा उन्हें ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिये। क्या वे अपने को दुष्टाचारियों के समर्पण कर देवें अथवा जैसे को तैसा इस नीति का उन्हें अनुसरण करना चाहिए। ऐसी भी स्थिति

आजाती है कि नीतिकारों के बतलाये नियमों में से एक साथ दो नियम लागू होने लगते हैं, उस समय यह करूँ अथवा वह करूँ—इस चिन्ता में भी मनुष्य को पड़जाना पड़ता है। सत्य को ही प्रथम देखना चाहिए। नीतिकारों ने सत्य धर्मकी बड़ी ही प्रशंसा की है और उसके पालन का उपदेश दिया है। सत्य से बढ़कर दूसरा धर्म भी नहीं माना जाता—इतनी लम्बी चौड़ी महिमा सत्य की कही गई है। है भी वस्तुतः बात ऐसी ही। मनुष्य के सारे व्यवहार वाणी से होते हैं। एक विचार दूसरे पर प्रकट करने के लिये वाणी एवं शब्द के समान दूसरा साधन नहीं है। वही वाणी का मूल है। जो आदमी असत्य भाषण द्वारा उसकी वंचना करता है वह एक ऐसा चोर है जो सब कुछ चुरा लेता है। लगभग सभी धर्मों में इस सत्य के पालन का विधान पाया जाता है। परन्तु इतने ही से यह नहीं कहा जासकता कि सत्यपालन हर स्थितियों में स्वयंसिद्ध है चिरस्थायी है और उसमें कोई अपवाद नहीं। दुष्टजनों से परिपूर्ण जगत् में, सत्य में भी अपवाद की स्थिति आ ही जाती है। उदाहरण के रूप में कल्पना कीजिये कि कुछ डाकुओं ने किसी सज्जन पुरुष का पीछा किया है, अथवा कुछ लोगों ने हाथ में तलवार लेकर वध करने की दृष्टि से किसी सज्जन का पीछा किया है और सज्जन पुरुष उनसे बचने के लिये कहीं छिप रहता है। तुम उसके छिपने के कार्य को जानते भी हो। परन्तु यदि वे डाकू और तलवारधारी आकर तुमसे पूँछें कि वह छिपा हुआ व्यक्ति कहाँ है तो क्या तुम उन्हें बतला दोगे अथवा सज्जन की रक्षा करोगे। सज्जन के वध से होनेवाली हिंसा का रोकना भी उतनी ही नीतिमत्ता है जितनी सत्य बोलना। ऐसी परिस्थिति में यदि सत्य के बोलने के हेतु छिपे व्यक्ति को बता दिया जावे तो हिंसा होगी और यदि नहीं बताया

जावे तो सत्य बोलने का नियम नहीं रहता। यदि डाकू बिना पूँछे चले जावें और न बोलने से कार्य चल जावे तो सत्य रक्षा में कोई बाधा नहीं पड़ती परन्तु यदि पूँछे तो उस हालत में विषम परिस्थिति हो जाती है। स्मृतिकार लोगों ने ऐसी अवस्था में यह बचाव उपस्थित किया है कि बिना पूछे तो किसी से बोलना न चाहिये और यदि कोई अन्याय से प्रश्न करे तो पूँछने पर भी उत्तर न देना चाहिए। यदि बात परिज्ञात भी है तब भी पागल के समान कुछ अस्पष्ट 'हूँ हूँ' करके बात बना देनी चाहिये। परन्तु इतने से ही वस्तुस्थिति स्पष्ट नहीं होती। मान लीजिये की 'हूँ हूँ' करके बात बना दी गयी। फिर भी क्या यह असत्यभाषण नहीं। किसी तथ्य को छिपाने के लिए ही तो यह साधन, जान बूझ कर वर्ता गया है, फिर यह असत्य क्यों नहीं। यह भी वस्तुतः प्रकारान्तर से असत्य-भाषण ही है। दूसरी बात यह भी आती है कि यदि इस 'हूँ हूँ' करके बात बनाने का समय ही न हो, अथवा आप के इस 'हूँ हूँ' करने से सज्जन के छिपने के प्रति सन्देह होकर परिणामतः उसके वध की संभावना बलवती होजाती है तो उस स्थिति में क्या करना चाहिए ? कहना पड़ेगा कि ऐसी अवस्था में सत्य वह है जो जनकल्याणार्थ हो, इस भावना का आश्रय लेकर सज्जन-व्यक्ति के प्राण बचाने के लिये झूँठ बोल देना चाहिए। यह है नीति-नियम के अपवाद की स्थिति अथवा शब्दान्तर से आपद्धर्म। ऐसे ही अवसरों के लिये यह माना गया है कि यदि बिना बोले कार्य चल जावे अथवा छुटकारा मिल जावे तो कुछ भी हो, बोलना नहीं चाहिए, और यदि बोलना परमावश्यक हो अथवा न बोलने से दूसरों को कुछ सन्देह होना संभव हो तो उस समय सत्य की अपेक्षा असत्य बोलना ही कर्तव्य है। ऐसा क्यों करना चाहिए ? इसका समाधान है कि शब्दोच्चारण

रूपी सत्य की अपेक्षा प्राणियों के हित के लिये बोला गया अत्यन्त-भूतहित सत्य श्रेष्ठ है। आततायी पक्ष से लड़ने वाले अश्वत्थामा के वध के लिये परमसत्यसन्ध युधिष्ठिर को भी द्रोण को सन्देह में डालने के लिए "नरो वा कुञ्जरो वा" कह कर यही आश्रय लेना पड़ा था। ग्रीन महोदय ने इस व्यावहारिक तथ्य को देखते हुए स्वयं स्वीकार किया है कि ऐसे अवसरों पर बहुधा नीतिशास्त्र मूक होजाते हैं।

सत्य के विषय में यह अपवाद केवल भारतीय नीतिशास्त्रों की ही कल्पना नहीं, पाश्चात्यों ने भी ऐसे ही अपवाद माने हैं। ईसा के प्रसिद्ध शिष्य पाल ने बाइबिल [रोम ३-७.] में कहा है कि "यदि मेरे असत्य भाषण से प्रभु के सत्य की महिमा बढ़ती है तो इससे मैं पापी क्योंकर हो सकता हूँ"। प्रसिद्ध नीतिकार म० सिजविक ने इस सत्यापवाद तथ्य को इस प्रकार स्वीकार किया है। उन्होंने अपने 'नीतिमीमांसा के प्रकार' ग्रन्थ में लिखा है कि—छोटे बच्चों और पागलों को उत्तर देने के समय, बीमार व्यक्तियों को यदि सत्य बात सुना देने से उनकी मृत्यु का भय हो तो, अपने शुत्रुवों को, चोरों अथवा अन्याय से प्रश्न करने वालों को उत्तर देने के समय; अथवा वकीलों को अपने व्यवसाय में झूठ बोलना अनौचित्य-पूर्ण नहीं है। लेस्ली स्टीवन विद्वान् ने एक स्थल पर अपनी पुस्तक सदाचार-विज्ञान में यह भी लिखा है कि यदि मेरा यह विश्वास होजावे कि मेरे झूँठ बोलने से ही कल्याण होगा तो मैं सत्य बोलने के लिये कभी तैयार नहीं हूँगा। मिल ने अपने नीतिशास्त्र में भी इन्हीं अपवादों का समावेश किया है। पूर्वोक्त अपवादों के अतिरिक्त सिजविक यह भी लिखते हैं कि यद्यपि कहा गया है कि सबको सत्य बोलना चाहिए तथापि यह नहीं कहा जासकता कि जिन राजनीतिज्ञों को अपनी कार्यवाही गुप्त

रखनी पड़ती है औरों के साथ, तथा व्यापारी अपने ग्राहकों के साथ, सदा सत्य ही बोला करे। उसके अनुसार पादरियों और सिपाहियों को भी ऐसी सहूलियत मिलनी चाहिए। अध्यात्मवादी ग्रीन, बेवल और बेन आदि नीतिग्रन्थ के लेखकों ने भी ऐसे अपवादों को माना है। इसी दृष्टि को ध्यान में रख कर कहे गये कुछ सत्य-विषय में अपवाद हमें महाभारत और मनु आदि में भी मिलते हैं। पाश्चात्य विद्वानों से पूर्व ही भारतीय नीतिशास्त्रज्ञों ने ऐसे विषयों का मनन कर अपना निर्णय दे दिया था। हँसी में, अपनी स्त्री के साथ, विवाह के समय, जब अपनी जान अथवा किसी दूसरे की जान पर आ पड़े, सम्पत्ति की रक्षा के लिये बोले गये-ये पाँच प्रकार के असत्य-भाषण से होने वाले पाप, पाप नहीं कहे जाते हैं। परन्तु स्त्री आदि से सदा झूँठ ही बोला जावे यह भाव इसका नहीं। विवाह काल में की गयी प्रतिज्ञायें इस अपवादसे तोड़ दी जावें यह भी यहाँ अभिप्रेत नहीं। सत्य का अपवाद केवल उस स्थल पर है जहाँ पर वाङ्मात्र के सत्य की अपेक्षा लोकहित अधिक हो।

सत्य के सामाजिकजीवन में व्यवहार पर कुछ तात्विक विचार भी यहाँ पर रखना आवश्यक है। वह इस प्रकार से समझना चाहिये। प्रत्येक मनुष्य समाज में अपनी सम्मति रखता है और यह उसका अपना मौलिक अधिकार है। इस मौलिक अधिकार को उससे कोई छीन नहीं सकता। अपनी सम्मति जो वास्तव में सत्य का एक रूप है, उसके प्रकट करने का पूरा उसे अधिकार है परन्तु समाज में रहते हुए उसे इस अधिकार के विषय में समाज अथवा उसके दूसरे व्यक्तियों से कुछ सुलह भी करनी पड़ती है। इस सुलह के परिणामस्वरूप उसे अपनी सत्य सम्मति के प्रकटीकरण के विषय में कभी

कभी रुकना भी पड़ता है। यह जानते हुए कि इसका प्रकट करना सत्य का प्रकट करना है फिर भी वह इसे प्रकट नहीं कर सकता। प्रत्येक मनुष्य की सम्मति के तीन विभाग हैं—सम्मति का बनाना; सम्मति का पालन करना; और सम्मति का प्रकट करना। जहाँ तक सम्मति के बनाने और सम्मति के पालन का सम्बन्ध है प्रत्येक मनुष्य समाज में उनके लिए स्वतंत्र है। कोई जैसी चाहे सम्मति बनावे और जैसा चाहे उस सम्मति का पालन करे। परन्तु तीसरे प्रकार की सम्मति के विषय में उसे यह स्वतंत्रता समाज नहीं देता, किन्हीं अवसरों पर वह इस स्वतंत्रता को रोकता है और इसके प्रकट करने में मानव को दूसरों से सुलहनामे की आवश्यकता पड़ती है। कोई भी मनुष्य कोई ऐसी सम्मति नहीं प्रकट कर सकता जिससे समाज अथवा दूसरों का अनहित हो। विद्रोहात्मक व्याख्यानों को रोकने के विधान का भी मूल यही भाव है। सम्मति के प्रकट करने में व्यक्ति को दूसरों के हित का ध्यान रख कर करना पड़ेगा। इस भाव का मूल वास्तव में मनु के इस वचन में छिपा हुआ है कि "सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्"—अर्थात् सत्य बोलो, प्रिय बोलो और सत्य को इस ढंग पर बोलो की वह दूसरों को अप्रिय एवं हानिकारक न हो। यदि सत्य बातों के प्रचार को रोकने वाले जनहानिकारक विधानों का मूल देखा जावे तो सबको इसी परिणाम पर पहुँचना पड़ेगा कि ये वस्तुतः सत्य का समाज में व्यवहार करते समय अपवाद का सामना कहाँ कहाँ पर करना पड़ता है, इन्हीं अपवादों के दार्शनिक तत्व पर आधारित हैं। परन्तु यह बात भी नीति में उतनी ही आवश्यक है कि किसी नीतिनियम का अपवाद स्वयं नीतिनियम का रूप नहीं धारण कर सकता। सत्य का अपवाद विशेष परिस्थिति में लोकहितार्थ

झूँठ भी बोलना हो सकता है परन्तु सदा ऐसी अवस्थाओं में या सत्य की अपेक्षा सदा झूँठ ही बोला जावे, यह नीतिनियम नहीं बनाया जासकता है।

यह तो सत्य के विषय की बात हुई। अहिंसा में भी इसी प्रकार के अपवाद देखे जाते हैं। जाति, देश, काल का बिना ध्यान किये सर्वत्र सर्वदा अहिंसा का पालन करना सार्वभौम और आदर्श नीतिमत्ता है परन्तु परिस्थितिवश अथवा दो समान नियमों के एक ही साथ उपस्थित होजाने पर अहिंसा में भी अपवादों को स्थान प्राप्त होजाता है। अहिंसा को बौद्ध और ईसाई धर्म ग्रन्थों में भी मनु की भाँति पहला स्थान दिया गया है। अहिंसा केवल किसी की जान न लेने का ही नाम नहीं अपितु किसी के मन अथवा शरीर को भी दुःख न देना उसमें सम्मिलित है। अहिंसाधर्म की श्रेष्ठता इस संसार में सार्वभौम है। परन्तु थोड़ी देर के लिये कल्पना कर लीजिए कि कोई दुष्ट किसी के घर में आग लगाने के लिये, या उसकी सम्पत्ति छीनने के लिये, अथवा उसकी स्त्री वा पुत्री पर बलात्कार करने के लिए, या हाथ में शस्त्र लेकर वध करने के लिये आता है तो क्या उस हालत में उस व्यक्ति को 'अहिंसा' की दुहाई देकर अपने को दुष्ट के हवाले कर देना चाहिये और वह जो बलात्कार करना चाहता है करने देना चाहिये ?। यदि ऐसी अवस्था में हिंसा से दुष्ट का प्रतीकार किया जावे तो अपवाद सामने है और यदि आत्म-समर्पण किया जावे तो जान माल का भय है और दूसरा नीतिधर्म विरोध भी। क्योंकि अन्याय और अत्याचार का सहना भी तो एक पाप है। नीतिकार तो ऐसे दुष्ट को मार देने का विधान देते हैं और इस मारने में पाप भी नहीं समझते क्योंकि उनकी दृष्टि में ऐसे आततायी का यह कर्म ही उसकी मृत्यु का महान् कारण है। नीतिकारों के

अनुसार-आग लगाने वाला, विष देने वाला, हाथ में शस्त्र लेकर मारने को आने वाला, तथा सम्पत्ति का अपहरण करने वाला एवं स्त्री और बच्चों का अपहरण करने वाला-ये छः आततायी हैं। इनके मारने में पाप नहीं होता। वर्तमान विधानों में भी आत्मरक्षा के अधिकार को किसी सीमा तक स्वीकार किया गया है। हिंसा तो स्वयं एक महान् पाप है ही परन्तु भ्रूणहत्या की हिंसा को और भी गर्हित पाप माना गया है। परन्तु एक स्त्री जिसके गर्भ में बच्चा टेढ़ा होगया है और उसके प्राण का भय है-ऐसी स्थिति में बच्चे को काटकर डाक्टर को निकालना चाहिए अथवा बच्चा तो जावेगा ही, साथ ही साथ माँ को भी स्वर्ग धाम जाने देना चाहिये? प्रत्येक विचारवान् व्यक्ति यही कहेगा कि बच्चे को काटकर निकलवा कर भी माता की जान बचानी चाहिये यदि बिना किसी खतरे को उठाये हुए माँ के आपरेशन से बच्चा न निकाला जा सकता हो। इसके अतिरिक्त यह भी देखना है कि हम संसार में रहते हैं। जमीन पर चलते हैं, पानी पीते हैं और श्वास प्रश्वास भी लेते हैं। हमारे अपने कार्य के साधक दैनन्दिन व्यवहारों से बहुत से सूक्ष्मयोनि कीड़ों की जान जाती है। इस हिंसा को हम कभी भी बचा नहीं सकते, यदि बचावें तो अपनी जीवनयात्रा भी संभव नहीं। हम घर में रहते हुए दीपक जलाते हैं, भोजन पकाने में लकड़ी का प्रयोग करते हैं, गेहूँ चावल का खाद्य में प्रयोग करते हैं इनमें सैंकड़ों पतंगे दीप पर मर जाते हैं; कितने कीड़े लकड़ी जलाने में जल जाते हैं, कितने घुण आदि गेहूँ के पीसने में पिसते और चावल के साफ करने में मरते हैं। यदि हिंसा न करनी पड़े इसलिये इन कार्यों को छोड़ दिया जावे तो फिर जीवन का शेष रहना भी संभव न होवेगा। यदि ऐसी हिंसा से बचने के लिये सारे मनुष्य अनशन करके अपने ही

प्राण दे देवें तो यह पहले तो संभव नहीं, और लोग इसे जहाँ मूर्खता कहेंगे-वहाँ यह स्वयं ही एक महती हिंसा और नीतिमत्ता के विरुद्ध बात होगी। ऐसी हिंसायें आँख की पलक हिलाने से लेकर शरीर के अन्य व्यापारों में प्रतिक्षण होती रहती हैं। कभी कभी प्राणरक्षा के लिये दूसरे की हिंसा करके भी साधन सम्पन्न करना पड़ता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि किसी समाज अथवा राष्ट्र के लिये क्षात्र अथवा सैन्यशक्ति नितरां आवश्यक है। राष्ट्र इसके विना चल नहीं सकता। यदि सैनिकों को संग्राम में यही शिक्षा देदी जावे कि हिंसा मत करो तो राष्ट्ररक्षा हो चुकी। क्षत्रिय और सैनिक के लिये अहिंसा के स्थान में हिंसा को भी धर्म मानना पड़ेगा। अहिंसा के ही समान हिंसा भी उसके लिए आवश्यक है। अन्यथा केवल अहिंसा से क्षात्रधर्म ही संसार से मिट जावेगा। इसलिये इन अवस्थाओं में अहिंसा में भी अपवाद मान लिये गये हैं। अहिंसा के साथ ही क्षमा, दया, शान्ति आदि उसके उज्जीवक नीतिनियमों के पालन का भी विधान है। परन्तु सदा निर्बाधरूप से इनका पालन हो नहीं सकता है। समाज में यदि कोई ऐसा अत्याचारी डाकू है जिससे समाज की शान्ति में विघ्न है तो दण्ड देने की व्यवस्था की जाती है। यदि वह नहीं पकड़ा जासकता और असमर्थता देखी जाती है कि उसे पकड़ कर कारागार में रखा जावे तो समक्ष उपस्थित होने पर पुलिस उसे गोली भी मार देती है। यह हिंसा जनकल्याण के लिये है-इसलिये कर्तव्य में है। दण्ड के विना शासन हो नहीं सकता और दण्ड में हिंसा भी करनी पड़ती है। यदि सर्वदा हिंसा बुरी है तो फिर दण्ड को तो दुनियाँ से उड़ा ही दिया जावे। परन्तु ऐसा करना समुचित नहीं है। लोक में ऐसे भी उदाहरण हैं कि हिंसा का निवारण हिंसा से और अहिंसा का

पालन हिंसा के द्वारा देखा जाता है। हज़ारों गायों की गर्दन पर प्रातःकाल कसाइयों की छुरी होती है परन्तु एक ही विधान से थोड़े से कसाइयों को दण्ड देकर इस हिंसा को सदा के लिए समाप्त किया जासकता है। कभी कभी कोई कर्म हिंसा दिखलायी पड़ता है परन्तु वह ठहरता है अहिंसा। ऐसे कर्मों में शल्यचिकित्सा को समझा जासकता है। यह अहिंसा की स्थिति है, इसी प्रकार से अस्तेय के विषय में अपवाद पाये जाते हैं। किसी के धन को अन्यायपूर्वक लेना अथवा लेने की इच्छा करना अथवा खुले शब्दों में चोरी करना स्तेय कहलाता है। स्तेय का न होना अस्तेय है। मानवता और उसमें भी विज्ञता और सदाचारिता का तक़ाजा है कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे के धन को लोष्ठवत् समझे और किसी भी प्रकार अनुचित रीति से लेने की इच्छा न करे। यदि इस अस्तेय नियम का पालन न किया जावे तो समाज में सम्पत्ति का संचय ही बन्द होजावे और सर्वथा इस दिशा में अव्यवस्था फैल जावे। परन्तु दुर्भिक्ष के समय प्राणरक्षार्थ इसमें भी अपवाद पाया जाता है। हाब्स ने भी ऐसा ही लिखा है कि दुर्भिक्ष के समय यदि कोई आदमी चोरी करके भी प्राणरक्षा करता है तो वह अपराध का कर्म नहीं है। मिल ने तो यहाँ तक लिखा है कि इस समय चोरी करके भी अपनी जान बचाना मनुष्य का कर्तव्य है। कहीं कहीं पर तो नीतिकारों ने यहाँ तक लिखा है कि धन का संचय धर्मार्थ होने से तदर्थ न व्यय करने वाले के धन को लेना बुरा नहीं। इस प्रकार के अपवाद अस्तेय के विषय में देखे जाते हैं।

माता, पिता, गुरु आदि श्रद्धेय और पूजनीयों का आदर करना उनकी सब प्रकार से सेवा करना और उनकी आज्ञा को मानना मनुष्य का कर्तव्य है। यह बातें लगभग सभी समाजों

और संप्रदायों में देखी जाती है। यदि ऐसा न किया जावे, तो परिवार, शिक्षालय और समाज की व्यवस्था ही ठीक ठीक नहीं बन सकेगी। दश उपाध्यायों की अपेक्षा आचार्य श्रेष्ठ है और शत आचार्यों से भी पिता श्रेष्ठ है; तथा सहस्र पिताओं से भी माता का गौरव अधिक है। स्मृतिकारों ने तो माता की प्रशंसा करते हुए यहाँ तक लिखा है कि माता बच्चे को उत्पन्न करने में जो कष्ट उठाती है इसका नैऋण्य सौ जन्मों में भी नहीं हो सकता। इनकी महत्ता को देखते हुए भी यह भी बतलाया गया है कि पिता, आचार्य, मित्र, माता, स्त्री, पुत्र और पुरोहित-इनमें से कोई भी यदि अपने कर्तव्य का पालन न करते हों तो राजा को चाहिये कि वह इन्हें दण्ड देवे। पुनः एक स्थल पर यहाँ तक कहा गया है कि यदि गुरु आततायी की कोटि में आता है तो विना विचार किये उसका हनन करना चाहिए। इस प्रकार से दोनों तरह की आज्ञायें नीतिकारों के ग्रन्थों में मिलती हैं। परन्तु यदि किसी के बालक के न्याधीश के पद पर आसीन होने पर उसके माता, पिता अथवा गुरू किसी अपराधी के रूप में आवें तो उस समय उसे पूर्वोक्त नीतिनियमों में किसका पालन करना चाहिए-यह एक विकट समस्या की बात बन जावेगी। न्यायाधीश के पद पर बैठे हुए व्यक्ति का वास्तव में कर्तव्य यही है कि वह न्याय करे और चाहे माता अपराधी के रूप में आवे चाहे पिता उस पर भी न्यायानुसार ही व्यवहार करे। माता के रूप में उसके साथ न्यायाधीश का वर्ताव अन्य है और अपराधी के रूप में उसके समक्ष उपस्थित होने पर उसे न्याय का ही वर्ताव करना चाहिये और यदि दण्ड भी देना पड़े तो देना चाहिए। इस प्रकार इन शिष्टाचार के नियमों में भी अपवाद पाया जाता है। ये अपवाद देश, काल, और परिस्थितियों में पूर्वोक्त नीतिनियमों में देखे जाते हैं। ये ही

कभी कभी आपद्धर्म के नाम से भी पुकारे जाते हैं। वस्तुतः यदि देखा जावे तो नीतिमत्ता के विशुद्ध नियमों को नीतिसिद्धान्त कहा जाता है परन्तु सिद्धान्त को प्रयोग में लाते समय परिस्थितियों के अनुसार कर्त्तव्य में भेद पड़ जाता है। इसलिए नीतिसिद्धान्त और नीतिकर्तव्य में थोड़ा सा अन्तर कभी कभी पड़जाया करता है। सत्य बोलना, अहिंसा का पालन करना, ये नीति के सिद्धान्त हैं इनकी स्थिति त्रिकाल एक सी है। परन्तु व्यवहार में पूर्वोक्त परिस्थितियों में कर्तव्य में भिन्नता आजाती है और इनके विपरीत भी करना कर्त्तव्य हो जाता है। सिद्धान्त, सिद्धान्त ही रहता है परन्तु कर्त्तव्य भिन्न होता रहता है। कहने का तात्पर्य यह है कि सिद्धान्त तो सत्य और अहिंसा ही है परन्तु कर्त्तव्य परिस्थिति में विपरीताचरण भी होता है और है वह वैसा ही करणीय। कभी कभी इसी कर्तव्य शब्द को लोग नीति का संकुचित अर्थ लेकर नीति शब्द से व्यवहृत करते हैं। सिद्धान्त, सिद्धान्त है और अपवाद सिद्धान्त न होते हुए भी कर्तव्य है। दूसरी एक अतिरिक्त बात अपवादों के विषय में यह पायी जाती है कि ये अपवाद अधिकांशतः निषेधात्मक-विधेय वाले नीतिनियमों में पाये जाते हैं विधानात्मकविधेय वाले नियमों में नहीं। सत्य बोलो, अहिंसा का पालन करो, ब्रह्म-चर्य का पालन करो आदि विधानात्मकविधेय वाले नियम हैं। इन में कोई यह अपवाद नहीं कहता कि तुम सत्य बोलो भी और न भी बोलो, तुम अहिंसा का पालन करो और न भी करो। परन्तु हिंसा मत करो; असत्य मत बोलो, लम्पटता मत करो, चोरी मत करो आदि निषेधात्मक विधेय वाले नियमों में यह अपवाद पाया जाता है कि किसी विशेष परिस्थिति के अनुसार करने और न करने से होने वाली लाभ हानि को पलड़े पर माप कर विपरीत भी कर सकते हो।

परन्तु यद्यपि अपवाद कर्तव्य रूप में आजाते हैं, तथापि वे नीति के विशुद्ध सिद्धान्त और सभी अवस्थाओं में मन्तव्य के रूप में नहीं हो सकते हैं। नीतिमत्ता के नियम शाश्वत हैं और अपवाद अशाश्वत हैं, आदर्श नीतिवादी के लिये अपवादों का पालन करना कोई आवश्यक बात नहीं। इन अपवादों से बचकर अथवा इनको ठुकराकर व्यक्ति आदर्श-नीति की रक्षा भी कर सकता है। अहिंसा के पालन में लोगों ने प्राण तक दिये परन्तु कर्तव्य से नहीं डिगे। अपवाद के उदाहरण में जो प्राणरक्षार्थ हिंसा का अवलम्बन आदि करने का प्रसंग आता है उस अवसर पर प्राणों की बाज़ी लगाकर हिंसा न करने वाले देखे गये हैं। कल्पना किया कि ऐसा अवसर जीवन में आया कि प्राण का संकट है तो उस अवस्था में भी तो आदर्श को देखने वाले नीतिधर्म को शाश्वत समझकर प्राण देने को कटिबद्ध होजाते हैं और हिंसा का मार्ग नहीं अपनाते। कई महात्माओं ने अपने को विष देने वाले अपराधी को छुड़ा दिया और ऋषिदयानन्द ने तो अपराधी को अपने पास से रुपये भी देकर भग जाने को कहा—किन्तु हिंसा की वृत्ति नहीं धारण की; न दया ही छोड़ी, अपने प्राणों को बलिदान कर दिया। राजा दिलीप भी तो गाय के प्राण बचाने के लिये जान देने तक को कटिबद्ध हो गये थे। क्या उनके लिये अपवाद नहीं था। इसी प्रकार सत्य नियम के विषय में विशेष प्रसंगों के लिये कहे गये अपवाद मुख्य प्रमाण अथवा नीति के आदर्श नहीं माने जासकते हैं। इस तात्त्विक आदर्श-नीति के भारतीय इतिहास में अनेकों उदाहरण मिलते हैं। महादार्शनिक पतंजलि ने तो अहिंसा, सत्य आदि नीतिधर्मों के पालन के विषय में देश, काल आदि को स्थान ही नहीं दिया है। वे सार्वभौम महाव्रत के रूप में इनका पालन स्वीकार करते हैं। शास्त्रकारों ने

भी तात्त्विक सिद्धान्त यही निकाला है कि जो अपने लिए, परार्थ के लिए, अथवा मज़ाक में भी कभी नहीं झूँठ बोलते, वे स्वर्गगामी होते हैं। भर्तृहरि ने सत्पुरुषों के आदर्श का वर्णन करते हुए लिखा है कि सत्यव्रत के व्यसनी लोग अपने प्राण तक को सुख से दे देंगे परन्तु वे अपनी प्रतिज्ञा से नहीं हटेंगे। सत्यवादी हरिश्चन्द्र की सत्यसंधता लोक प्रसिद्ध है। क्या उन्हें कोई अपवाद नहीं सूझा था। अवश्य सूझा होगा परन्तु आदर्श की रक्षा को शाश्वत समझ कर उन्होंने पालन किया। सर्पों की रक्षा करने के लिये जीमूतवाहन ने अपने शरीर को गरुड़ के अर्पण किया और दधीच ने देवताओं के लाभार्थ असुरों के पराजय के लिए अपनी हड्डियाँ भी अर्पित कर दीं। मृच्छकटिक में चारुदत्त के उदात्त भावों का चित्रण करते हुए शूद्रक कविने लिखा है कि चारुदत्त यह कहता है कि "मैं मृत्यु से नहीं डरता, मुझे दुःख है कि मेरी एकमात्र कीर्त्ति कलङ्कित होगयी। कीर्त्ति पर विना कलङ्क लगे हुए, विशुद्ध यश को रखते हुए मैं अपनी मृत्यु को भी पुत्रजन्म के उत्सव के समान मानूँगा" कर्ण जैसे महान् दानी का नाम उसके आदर्श के कारण ही अमर है। इन्द्र ने उससे जिस समय उसका कवच और कुण्डल मांगा तो कर्ण ने सूर्य के इस उपदेश को स्मरण रखते हुए भी कि कुण्डल और कवच देने में उसकी मृत्यु हो जावेगी, उन्हें इन्द्र को दे दिया। यद्यपि उसको यह बात भी स्मरण कराई गयी थी कि "मरे को कीर्त्ति से क्या लाभ होगा"। तब भी उसने इसे यह उत्तर देते हुए अपने व्रत का पालन किया कि "जीवन देकर भी कीर्त्ति की रक्षा करना मेरा व्रत है"। ये आदर्श नीतिधर्म में विना किसी अपवाद के भी वर्त्ते जासकते हैं, इस तथ्य को देखकर ही महाभारत आदि ग्रन्थों में कहा गया है कि धर्म नित्य और शाश्वत है, जीवन देकर भी उसकी रक्षा

करनी चाहिए। जो लोग यह कहते हैं कि विशेष परिस्थितियों में होने वाले नीतिनियमों के अपवाद धर्म हैं अधर्म नहीं, वे वास्तव में ग़लती पर हैं। धर्म तो सत्य और अहिंसा आदि ही हैं—उनके अपवाद हिंसा और असत्य नहीं। ये अपवाद परिस्थिति विशेष में कर्तव्य तो होजाते हैं परन्तु ये इतने मात्र से ही धर्म नहीं बन जाते। असत्य कभी न सत्य बन सकता है और न हिंसा कभी अहिंसा। हाँ, कभी कभी सत्य बोलकर आदर्श रखने और असत्य बोलकर अपवाद का पालन करने के दो विरोधी कर्मों में परिणाम को तौलने पर परिस्थिति के अनुसार असत्य का पलड़ा ऊँचा होने पर वह बोल दिया जाता है। परन्तु यह धर्म है, ऐसा नहीं कहा जासकता। है यह भी वस्तुतः अधर्म, किन्तु परिणाम जन-हितार्थ होने से इसका पालन किया गया। अपवाद होते हैं अधर्म ही परन्तु लाभालाभ के आधिक्य की दृष्टि से उनमें कर्तव्यता आजाती है। ये जन-साधारण के मार्ग तो हो सकते हैं आदर्शवादियों के नहीं। नीतिमत्ता अपवादों में नहीं बल्कि विशुद्ध नीतिनियमों के निर्बाध पालन में है। मानव का यही आदर्श सदा रहना चाहिए।

———

पंचम सोपान

कर्त्तव्य और अधिकार

इससे पूर्व नीतिनियमों के अपवाद और आदर्श का विचार किया गया। इस प्रकरण में कर्तव्य और अधिकार तथा उसी की सीमा का थोड़ासा विचार किया जाता है। नीतिनियमों का पालन मनुष्य को अनिवार्य समझकर निष्काम भाव से करना चाहिए और इसीमें मानवता के अन्तिम उद्देश्य की सिद्धि भी है। परन्तु वर्तमान समय अधिकार का युग होने से कर्तव्य के विषय में कम सोचा जाता है अधिकार ही की मांग अधिक है। हमारे स्मृतिग्रन्थों में ऋषियों ने कर्तव्य और अधिकार दोनों का विचार किया है परन्तु कर्तव्य विषय की प्रेरणा ही उनमें अधिक मिलेगी। अधिकार का वर्णन बहुत थोड़ा मिलेगा और वह भी कर्तव्य-परायण को ही। कर्तव्य का ध्यान न देकर केवल अधिकार की मांग वास्तव में पश्चिमी सभ्यता की देन है। यह कर्तव्यशून्य अधिकारवाद वास्तव में हाब्स जैसे विद्वानों के उन सिद्धान्तों को मानकर चल रहा है जिनको उन्होंने अपनी विचार धारा से अपने ग्रन्थों में प्रतिपादित किया है। यह मानना कि मानव वास्तव में स्वभाव से स्वार्थी है और उसको अपने स्वार्थ में दूसरे साथियों से भय रहता है-इसलिए राज्यशक्ति-विधान का वह आश्रय लेता है

और राज्यशक्ति, विधान द्वारा उसके अधिकारों की रक्षा करती है तथा सब के अधिकारों की सीमा निर्धारित करती है–अधिकार की विचारधारा को प्रोत्साहन देता है। परन्तु जब यह सिद्धान्त मान लिया जाता है कि मानव ज्ञानवान्, कर्तव्यमय, सामाजिक प्राणी है वह स्वार्थी ही नहीं बल्कि परार्थी भी है तब अधिकार का एकान्तिक वाद खड़ा नहीं हो पाता। पहले मानव को कर्तव्य करना चाहिए अधिकार स्वयं उसकी योग्यता और कर्तव्यपरायणता के अनुसार उसे प्राप्त होंगे। ऐसा मनुष्य जिसमें अधिकार है और कर्तव्य तथा कृतज्ञता नहीं समाज में अत्याचारी बन जाता है और जिसमें केवल कृतज्ञता है वह दास होजाता है। इसलिए सामाजिक व्यक्ति में कर्तव्य और अधिकार दोनों हैं। परन्तु अधिकार कर्तव्य पर है और अधिकार की अपेक्षा कर्तव्य का महत्व अधिक है। परन्तु क्षेत्र दोनों का एक है। एक ही आलवाल में दोनों पनपते हैं। समाज में जहाँ व्यक्ति का कर्तव्य है वहाँ उसका अधिकार भी है। कोई भी व्यक्ति समाज में न तो विना कर्तव्य के रह सकता है और न वह विना अधिकार के ही। कर्तव्य स्वार्थ और परार्थ दोनों हैं अधिकार कर्तव्य को बना रखने के लिए साधन है। स्मृतिकारों ने दोनों का समन्वय करके चलने का उपदेश किया है। भारतीय सभ्यता में यह विशेषता है कि वह कर्तव्य-प्रधान है। अधिकार उसके साथ स्वयं समन्वित है। स्मृतिकारों का 'धर्म' शब्द बहुत ही व्यापक है। इसमें अधिकार और कर्तव्य दोनों आजाते हैं। स्मृतियों में जो त्याग का उपदेश है वह भी अधिकारी के लिये, अनधिकारी के लिए नहीं। अधिकार शब्द का अर्थ व्यवस्था भी है। अधिकार और प्रक्रिया व्यवस्थास्थापन के नाम हैं। व्यवस्था में न तो केवल अधिकार है और न केवल कर्तव्य। दोनों ही मिले हैं। विधान

में भी जहाँ करने न करने का वर्णन है वहाँ साथ ही साथ फौजदारी के क़ानूनों के संपत्ति सम्बन्धी क़ानून भी हैं। कर्तव्य पद की रचना अधिकार के भाव से रिक्त नहीं और अधिकार पद की रचना कर्तव्य के भाव से अलग नहीं। अधिकार शब्द "अधि" उपसर्ग के साथ करने अर्थ वाली 'कृञ्' धातु से बना है। जहाँ "कार" का अर्थ करने में प्रयोजन रखता है वहाँ अधिष्ठातृत्व, योग्यता और औचित्य के अर्थ को लिये हुए है। 'कर्तव्य' पद में जहाँ 'कृञ्' धातु करने के अर्थ में है वहाँ "तव्य" प्रत्यय का अर्थ योग्यता, औचित्य और सामर्थ्य है। बिना योग्यता के कोई कर्तव्यकर्म हो नहीं सकता। जिसमें जिस कर्तव्य की योग्यता नहीं, उसके लिये उस कर्तव्य का विधान भी नहीं है। यही कारण है कि पशुओं के लिये कर्तव्य का उपदेश नहीं जब कि मनुष्य के लिये है। पशु कर्तव्य कर्म के अधिकारी नहीं, मनुष्य हैं। व्यक्ति, समाज और उसके कर्तव्य व्यवस्था पर निर्भर हैं। व्यवस्था भी योग्यता की दृष्टि से की जाती है। इसलिये कहना पड़ेगा कि प्रत्येक का कर्तव्य उसकी योग्यता के अनुरूप ही होता है। अध्यापक पढ़ा लिखा है और योग्यता रखता है इसलिये वही पढ़ाने का कर्तव्य भी पूरा कर सकता है। अनपढ़ व्यक्ति उस कर्तव्य को नहीं पूरा कर सकता। कर्तव्य योग्यता पूर्वक बनते हैं और योग्यता अधिकार और गुण दोनों की सूचक है। अधिकार स्वाभाविक और योग्यता-सूचक दोनों प्रकार के होते हैं। नन्हें शिशु को कोई शास्त्रीय कर्म अथवा नीतिमत्ता के कर्तव्य का अधिकार नहीं, क्योंकि उसमें योग्यता नहीं, फिर भी माँ के दूध पीने का उसे अधिकार है। वर्णव्यवस्था में जहाँ प्रत्येक वर्णों के कर्तव्यों का निर्देश है, वहाँ उनके अधिकार भी बतलाये गये हैं। केवल कर्तव्यों के विषय में समानता

है परन्तु उनके अधिकारों में समानता नहीं। वर्णों के कर्तव्यों का निर्धारण उनकी योग्यता पर है और वह योग्यता अधिकार से रहित नहीं है। देश में अनाचार का मिटाना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। परन्तु सबके कर्तव्य की सीमायें उनकी योग्यता से पृथक् पृथक् निर्धारित हैं और अधिकार से भी उनका पूरा सम्बन्ध है। यह तो नहीं हो सकता कि प्रत्येक व्यक्ति अपराधी को दण्ड देता चले। दण्ड तो दण्ड का अधिकारी ही दे सकता है दूसरा नहीं। चोर और क़ातिल को सजा हर एक व्यक्ति नहीं देसकता। दान कर्म को ही लीजिये। दान का अर्थ है किसी वस्तु पर अपना स्वत्व हटाकर दूसरे को उस स्वत्व का देना। यह अधिकार के विना हो नहीं सकता। जिसके पास एक फूटी कौड़ी भी नहीं वह दान क्या करेगा और देगा क्या किसी को। एक व्यक्ति के अधिकार में पाई भी न हो और दान सहस्र का बोल देवे तो इस कर्म का कोई नैतिक मूल्य नहीं हो सकता। अंग्रेज़ी भाषा में कर्तव्य के लिये "ड्यूटी" और अधिकार के लिये 'राइट' पदों का प्रयोग होता है। यहाँ भी दोनों का क्षेत्र एक ही है। "ड्यू" के अर्थ हैं,-अधिकारयुक्त, योग्य और उचित। 'राइट' के अर्थ हैं-उचित, योग्य तथा अधिकार। केवल संज्ञा और विशेषण का भेद है अर्थ में दोनों के ही समता है। 'राइट' में जहाँ अधिकार का भाव है, वहाँ ड्यूटी से भी यह भाव हटता नहीं-क्योंकि इसका अर्थ है That which is due, अर्थात् कर्तव्य वह है जो उचित, योग्य और सामर्थ्यसाध्य हो। मनुष्य के अधिकारों की वैज्ञानिक व्याख्या करते हुए विद्वानों ने तीन श्रेणियों में उसके जन्मसिद्ध अधिकारों को बाँटा है। ये मूल अधिकार हैं और प्रत्येक व्यक्ति को मिलने चाहिएँ। इनमें से किसी का अपहरण समाज में अव्यवस्था उत्पन्न करता है, ये अधिकार स्वत्व,

रक्षा और सम्मान से सम्बद्ध हैं। इनको तोड़ने पर मनुष्य को एक अधिकार और प्राप्त होता है इसके बदले में जिसे विधान की दृष्टि में दण्डरूप में प्राप्य अधिकार कहा जाता है। स्वत्व में नागरिक-स्वातंत्र्य आदि सभी आजाते हैं। विशद्रूप से शरीर, सम्पत्ति, सम्मान की रक्षा प्रत्येक मनुष्य का अधिकार है। इसकी रक्षा के लिए कर्तव्य का पालन परमावश्यक है। कर्तव्यपालन में आना-कानी करने से अवश्य अधिकार का अपहरण होगा। कल्पना कीजिए कि किसी व्यक्ति को अपने शरीर पर किसी दूसरे से आघात न पहुँचे—यह उसका अधिकार है परन्तु इसके साथ ही उसका यह कर्तव्य है कि वह दूसरे के शरीर पर भी कोई आघात न पहुँचावे। यदि कोई अपना स्वत्व कायम रखना चाहता है तो दूसरे के स्वत्व को भी कायम रहने दे। यदि अपने जीवित रहना चाहता है तो दूसरे को भी जीवित रहने दे। यदि अपने सम्मान की रक्षा चाहता है तो दूसरे के सम्मान को भी ठेस न लगावे। अधिकार विना कर्तव्य के सुरक्षित नहीं रह सकते। कर्तव्य, अधिकार और कर्तव्यपालन तीनों के सम्बन्धों को बिना सोचे किसी एक पर विचार करना कठिन है। कर्तव्य-च्युति औचित्य, न्याय और अधिकार के विरुद्ध करने का नाम है। कर्तव्य वह कर्म है जिसका न करना अथवा विपरीत करने से कर्तव्यच्युति उत्पन्न होती है, किसी कर्तव्य का न पालन करना कर्तव्य का भंग करना है। कर्तव्य का पालन करना कर्तव्य-भङ्ग से वंचना है। अधिकार वह है जिसका सम्मान करना कर्तव्य समझा जाता है और उसका अतिक्रमण करना कर्तव्यभङ्ग करना होता है। विना कर्तव्य के संसार में अधिकार की रक्षा नहीं हो सकती है। अधिकार और कर्तव्य एक दूसरे से इतने अधिक मिले हुए हैं कि विना तदनुरूप

कर्तव्य के कोई अधिकार नहीं हो सकता और न विना तदनु-रूप अधिकार के कोई कर्तव्य ही ठहर सकता है। यह संसार कर्तव्य और अधिकार दोनों का क्षेत्र है। समाज में इनके रूप व्यक्त रहते हैं परन्तु जब केवल व्यक्त्युत्कर्ष की प्रधानता होने पर मानव व्यक्ति को अध्यात्म क्षेत्र में प्रवेश करना पड़ता है तब अधिकार की समाप्ति होकर केवल कर्तव्य का ही प्राधान्य रह जाता है। सारे अधिकार कर्तव्य के विना नहीं ठहरते। अधिकार का नाम लेने से पूर्व कर्तव्य का प्रश्न उठ खड़ा होता है। इसलिये कर्तव्य को प्रधानता देनी चाहिए। विना कर्तव्य के संसार में न अधिकार ठहर सकता है और न अधिकार का भोक्ता ही। यदि संसार का प्रत्येक मानव कर्तव्य न करे और अधिकार की ही मांग करे तो संसार में प्रत्येक के अधिकारों का टक्कर होकर संसार में अव्यवस्था फैल जावे। इसीलिए कर्तव्य नीतिमत्ता के नियमों को विना किसी बाह्य उपाधि के स्वयंसिद्ध कर्तव्य कहा जाता है और उनका पालन स्वयं कर्तव्य की दृष्टि से विना किसी लाभालाभ का विचार किये हुए करते रहना परम कर्तव्य है।

षष्ठ सोपान

नीति और विधान

नीति और विधान का क्या सम्बन्ध है अथवा सम्बन्ध है भी या नहीं, इन बातों का विवेचन करने से पूर्व इनके स्वरूप को समझना परमावश्यक है। नीतिनियमों का विचार करके हमने देखलिया कि उनका पालन करना मनुष्य का कर्तव्य है। परन्तु कर्तव्य होते हुए भी मनुष्य को यह स्वतंत्रता है कि वह उनका पालन करे अथवा परिणामों का सामना करते हुए उनका पालन न करे। यद्यपि न पालन करने में यह भय बराबर बना है कि लोक परलोक नहीं बनेगा, बुरे परिणाम निकलेंगे और परमेश्वर के समक्ष क्या उत्तर दिया जावेगा—फिर भी कोई ऐसा प्रतिबन्ध नहीं है कि किसी नीतिनियम का न पालन करते समय वह आकर ऐसा करने से रोक दे। जो अपना कर्तव्य समझता है वह पालन करता है परन्तु यदि कोई व्यक्ति अपने कर्तव्य को न समझे और नीति-नियमों के न पालन करने के परिणाम का सामना करने को तैयार होकर इनका पालन न करे तो कोई परतंत्रता उसे नहीं है। मनुष्य प्रत्येक कर्म के करने में स्वतंत्र है—फल भोगने में वह भले ही परतंत्र हो। परन्तु विधान के विषय में यह स्वतंत्रता नहीं। किसी भी व्यक्ति को विधान का उल्लंघन नहीं करने दिया जावेगा। अनिवार्यरूप से विधान का पालन करना ही होगा। जिन नीति-नियमों को विधानरूप में स्वीकार किया गया है—यथा

चोरी न करना, हत्या न करना आदि उनके पालन और न पालन में भी किसी को कोई स्वतंत्रता नहीं। विधान आचरण एवं कर्म का वह नियम एवं आज्ञा है कि जिसका मनुष्य को अनिवार्यरूप से अपने आचरण का अङ्ग बनाकर पालन करना पड़ेगा। कोई नियम, जो जिन लोगों के लिये बनाया गया है, यदि उन्हीं को उसके पालन करने या न करने में स्वतंत्रता है अथवा उसका पालन उनकी इच्छा पर है तो वह विधान नहीं कहा जासकता। विधान के पालन में ननु और न च का स्थान नहीं। जहाँ तक समाज और राष्ट्र का सम्बन्ध है विधान आवश्यक अङ्ग है। विना इसके व्यवस्था क्षणमात्र के लिये भी स्थिर नहीं रह सकती। जिन जातियों में पहले अधूरे नियमों को विधान मानकर न्याय और शासन होता था शासन व्यवस्था ठीक प्रकार से नहीं चल पाती थी। कुछ थोड़े से लिखे हुए नियम थे जिनके आधार पर ही वे लोग न्यायनिश्चय का कार्य सोचते थे। यदि कोई व्यक्ति किसी ऐसे अपराध को न्यायालय में उपस्थित करता था जिसके लिये कोई लिखित नियम नहीं था तो उस अपराध की सुनवायी ही नहीं होती थी। तात्पर्य यह है कि अगर किसी रोग या बुराई की कोई दवा नहीं तो वह रोग या बुराई ही न समझी जावे। रोग का निर्णय दवा को देखकर होगा, रोग देखकर दवा का निर्णय नहीं। अगर चोरी के अपराध को जुर्म सिद्ध करने के लिये कोई लिखित नियम नहीं था तो वह चोरी कोई अपराध नहीं थी। इस प्रकार कितनी अव्यवस्था का सामना करना पड़ता था। वास्तविक और सफल राज्य-शासन वह है जिसमें यदि रोग एवं अपराध है तो उसकी औषध भी हो। औषध के होने न होने से रोग का निर्णय नहीं किया जाना चाहिए, अपितु रोग को देखकर उसके प्रतीकार की औषध देखी जानी चाहिए।

यह कितनी विचित्र बात है कि एक व्यक्ति किसी बीमारी से पीड़ित है और वैद्य कह दे कि चूंकि हमारे ज्ञान में इसकी दवा नहीं है अतः आप का रोग-रोग ही नहीं। यही बात राष्ट्र की भी है वह राष्ट्र ही पूर्ण है जिसमें रहने वाली जनता के प्रत्येक व्यक्ति की शिकायत का निवारण करने का वैधानिक साधन हो। जिसके पीछे कोई दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक पृष्ठ न हो वह विचार संसार में चल नहीं सकता। विधान का भी अपना एक विज्ञान है। वह इसके हर एक अंचलों पर विचार करता है। विधान के विज्ञान को साधारण दृष्टि से तीन श्रेणियों में बाँटा जासकता है। वे हैं—ऐतिह्यात्मक, विश्लेषणात्मक और नैतिक। ऐतिह्यात्मक विज्ञान वह है जिसमें विज्ञान के इतिहास को देखकर उसके अंचलों पर विचार किया जाता है। कोई भी विधानात्मक विचार अस्तित्व में कैसे आया और किसी देश के पूर्वकालिक विधान का वर्तमान विधान पर कितना प्रभाव है-इत्यादि बातों का विचार इस श्रेणी के अन्तर्गत आता है। विश्लेषणात्मक वह है जिसमें भूत और भविष्यत् में विधानों की क्या स्थिति है, इसका विचार न करते हुये केवल विधान के विचार शासन-विधान के दूसरे विधानों के साथ सम्बन्ध; तथा अधिकार और उसके भंग करने से होने वाली दण्डार्हता का विचार और अन्वेषण-आदि का अध्ययन किया जाता है। नैतिक-विधान-विज्ञान वह है जिसमें यह विचार किया जाता है कि भविष्य में विधान कैसा होना चाहिए। इसके अन्दर--न्याय का विचार, विधान और न्याय का परस्पर सम्बन्ध और वह प्रकार जिसमें विधान न्यायव्यवस्था के स्थापन में सफल होता है। यदि वर्तमान भारतीय दण्ड-विधान, अपराध-विधान और संपत्तिप्रतिशोध-सम्बन्धी विधानों पर ऐतिह्य की दृष्टि से विचार किया जावे तो

पता चलेगा कि ये इंगलैण्ड में प्रचलित इन विषयों के विधानों के परिवर्त्तित और परिवर्द्धित रूप हैं। यदि नैतिक-दृष्टि से विचार किया जावे तो परिज्ञात होगा कि इस धारणा से सर्वांश में पूर्ण नहीं हैं। इसका प्रधान कारण यह है-कि ये हाव्स के उस दार्शनिक तथ्य पर आधारित हैं—मानव स्वभाव से स्वार्थी है और अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये वह राज्य का आश्रय लेता है और राज्य विधानों को उस स्वार्थसंरक्षण के लिये आज्ञा के रूप में लागू करता है। मानव स्वभाव को स्वार्थी के साथ परार्थी और कर्तव्य-परायण मान लेने पर विधान के दृष्टिकोण में बहुत अन्तर आजाता है। विधान के सामान्य-प्रकार और लक्षणों का विचार करते हुए विधानज्ञों ने बताया है कि वर्तमान विधानों का वर्गीकरण आठ प्रकार से किया जासकता है और व्यापकरूप में किसी भी कर्म के नियम को विधान कहा जासकता है। वे आठों प्रकार इस प्रकार से परिगणित किये जाते हैं—विध्यात्मक विधान; विज्ञानात्मकविधान; नीत्यात्मकविधान; स्वीकारात्मक-विधान, प्रचनात्मक-विधान, परिभाषात्मक-विधान; अन्तर्राष्ट्रीय-विधान; तथा राज्यशासन-सम्बन्धी विधान। विध्यात्मक-विधान मानव द्वारा निर्मित आज्ञा के रूप में प्रचलित यह वर्तमान विधान है, जिसमें किसी अपराध अथवा हानिका न्यायालय विचार करता है। विज्ञानात्मक-विधान विज्ञान सम्बन्धी विधान है। नीत्यात्मक विधान को ही प्रकृति का विधान भी कहते हैं। यह प्रकृति-राज्य, समस्त जगत् में पाया जाता है और इसके नियम परमेश्वरीय एवं प्राकृतिक कहे जाते हैं। यदि यह प्राकृतिक शासन नियम का उदाहरण संसार में न होता तो मानव समाज में विध्यात्मक-विधान की कल्पना भी नहीं हो सकती थी। प्राकृतिक विधान दैवी आज्ञायें हैं और

मानवी-विधान राज्यकीय अथवा मानवों की आज्ञा है। स्वीकारात्मकविधान वे हैं जिसे दो दल परस्पर स्वीकार करके उनका पालन करते हैं। संस्थाओं और कम्पनियों में इसी प्रकार के विधान वर्त्ते जाते हैं। समाज एवं संप्रदाय में प्रचलित रीतियों को क़ायम रखने के लिए जो विधान का रूप दिया जाता है वह प्रचलनात्मक विधान हैं। परिभाषा सम्बन्धी विधान भी होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधान वे हैं जो विभिन्न राष्ट्रों द्वारा मान कर पालन किये जाते हैं। समाज अथवा राज्य में प्रचलित विधानों को समझने के लिए राज्य क्या है यह जानना भी आवश्यक है। समाजशास्त्री और राजनीतिविशारदों ने इस विषय में बहुत विचार किया है। प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू का कहना है कि राज्य एक प्रकार की बड़ी सोसायटी या समाज है। इसका उद्देश्य अधिकतम भला करना है। मानव-परिवार, ग्राम आदि के रूप में संघठित होता हुआ राष्ट्र के रूप में परिणत होता है। पूर्ण विकसित मानव समाज ही वस्तुतः राष्ट्र, एवं राज्य है। विना विधान के मानव पशु से भी बुरा है और विधान राज्य की सत्ता पर निर्भर करता है। परन्तु राज्य केवल विनिमय और अपराधों को रोकने का समाज नहीं है, उसका चरमोद्देश्य उत्तम जीवन की स्थापना है। म० लाके का विचार है कि प्राकृतिक-राज्य का विचार ही मानवी-राज्य का पूर्ववर्त्ती प्रारूप है इस प्राकृतिक राज्य में प्रकृति का विधान चालू है, और यह परमेश्वरीय आज्ञा है तथा किसी मानवी विधान संसद् के द्वारा लागू नहीं किया गया है। मानव प्रकृति के राज्य से ही सामाजिक सुलहनामें के साधन से निकला हुआ है और उसका यह सामाजिक सुलह-नामा वास्तव में शासक-राज्य की स्थापना करता है। म० ऐक्विनस ने विधान का विचार करते हुए कहा है कि मानव

द्वारा निर्मित प्रत्येक विधान ठीक उस सीमा तक प्राकृतिक-विधान के गुण और स्वभाव को धारण किये हुए–जिस सीमा तक वह प्राकृतिक-विधानों से निकला है। परन्तु यदि किसी मानवी विधान का प्रकृति के विधान से विरोध खड़ा होता है तो वह तत्काल ही समाप्त हो जाता है क्योंकि यह केवल विधानाभास है। लाके ने एक स्थल पर और भी कहा है कि यह दण्ड है जो मनुष्य के जान माल की रक्षा करता है और दण्ड-विधान से संचालित है। महाशय रूसो ने दर्शाया है कि प्राकृतिक राज्य से विकास में आते हुए एक समय ऐसा आता है कि व्यक्ति अपने को बहुत काल तक प्राथमिक स्वतंत्रता की अवस्था में नहीं रख सकता है। उसे उस समय यह आवश्यक हो जाता है कि अपने संरक्षण के लिए वह किसी समाज की स्थापना के लिए संघटित हो। परन्तु कोई अपने स्वातंत्र्य और अधिकार को, अपने लाभ को विना हानि पहुँचाये किसी प्रकार कैसे किसी बात पर प्रणबद्ध हो–इसलिये वह एक संघ बनाता है जो कि संयुक्तशक्ति से प्रत्येक संघी के जीवन और संपत्ति तथा भलाई की रक्षा करता है। प्रत्येक संघी संघ के माने नियम का पालन करता है। यह समाजसंघटन के मौलिक सामाजिक-मन्तव्य हैं। हीगल का कथन है कि राज्य वस्तुतः सत्तामय अनुभूत नैतिक-जीवन है और प्रत्येक आत्मिक सच्चाई जो मानव व्यक्ति में हो सकती है इस राज्य के माध्यम से ही हो सकती है। प्लाटो के अनुसार नागरिकों को जन-साधारण, सैनिक और पालक इन चार विभागों में बाँटा जा सकता है। इनमें पालक को ही राजनैतिक शक्ति देनी चाहिए। पहले तो वे संसद से चुने जाते हैं परन्तु बाद में वे वंशपरम्परा के अधिकार के अनुसार होते रहते हैं। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि राज्य एक समाज है। वह

जन-साधारण की संमति से बना हो अथवा व्यक्तियों की वंश परम्परा से आया हो–विधान का संचालन करता है। ये विधान उसके द्वारा प्राकृतिक राज्य में चालू दैवी-विधान के आधार पर लिये जाते हैं अन्यथा बहुत दिनों तक वे चल नहीं सकते। यदि संसार में दैवीशक्ति द्वारा संचालित नैतिक विधान न होते तो कोई भी मानवी-विधान कल्पना में नहीं आसकता था। प्राकृतिक राज्य में अधिकार सम्मिलित हैं और अधिकार के व्यक्तिशः पृथक् पृथक् न होने से ऐसे विधान की आवश्यकता नहीं कि उसकी रक्षा करे। परन्तु जब मानव के व्यक्तिगत अधिकारों का समय आजाता है तो उसकी रक्षा का मानवी-विधान भी बनाना पड़ता है। चाहे वह प्रजातंत्र-नियम से हो अथवा राजा की परम्परा से हो। अन्तर केवल इतना है कि प्रजातंत्र में बहुतों की सम्मति एक कल्पित पुरुष के द्वारा जनता पर शासन करती है और राजतंत्र में एक व्यक्ति की सम्मति बहुतों के माध्यम से जनपर शासन करती है। परन्तु दोनों में शासन होता है विधान के द्वारा और उस विधान के पीछे एक दण्डशक्ति रहती है जो राज्य के अधिकारी की आज्ञा को बिना ननु नच के पालन कराती है। मनु ने भी कहा है कि दण्ड ही प्रजा का शासन करता है और दण्ड ही रक्षा करता है–परन्तु दण्ड का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए अन्यथा वह शासन को ही समाप्त कर देता है। इस दण्ड को ही राज्य का Physical Force अथवा दूसरे शब्दों में Sanction कहा जाता है। इसी के आधार पर विधान, जो राज्य की आज्ञा है उसका पालन राज्य लोगों से करवा लेता है। जहाँ विचारवान् विद्वान् प्राकृतिक विधान को मानवी विधान का प्रारूप मानते हैं वहाँ कई आधिभौतिक पण्डित इसको विधान में स्थान नहीं देते। वे कहते हैं कि विध्यात्मक-विधान ही विधान है, प्राकृ-

तिक-विधान का दर्शन में जितना भी उपयोग हो यहाँ पर उसका कोई उपयोगी स्थान नहीं है। प्रसिद्ध भौतिकवादी हाब्स के सिद्धान्तानुसार वास्तव में विधान किस प्रकार अस्तित्व में आया-इसका दार्शनिक ढंग पर वर्णन मिलता है। प्रशासनिक विधान की विध्यात्मक विवेचना उसके मार्ग से इस प्रकार होगी। विधान वास्तव में नियमों और आज्ञाओं का वह समूह है जो कि राज्य द्वारा न्याय की व्यवस्था के लिये माना और लागू किया जाता है। समाज की प्रजा के अधिकार, सुरक्षा और शान्ति को राज्य के दण्डशक्ति द्वारा क़ायम रखना ही न्याय की व्यवस्था करना हैं। इस परिभाषा के अनुसार विधान की व्यवस्था प्रथम आनी चाहिए और न्याय व्यवस्थापन बाद में। परन्तु न्यायालय ही विधानालय भी हैं अतः न्याय और विधान एक ही हैं। न्याय विधान का एक केवल नामान्तर है। राज्य का प्रमुख कर्तव्य है कि वह अधिकार की रक्षा और बुराई को दूर करे। प्रशासन की विध्यात्मक-धारा की संगति लगाते हुए इस मार्ग से यह कहा जाता है कि राज्य एक संघटित समाज है। इस समाज में किसी स्थान पर किसी एक ऐसे व्यक्ति अथवा व्यक्तिसमुदाय का होना आवश्यक है जिसकी आज्ञा को लोग अवश्य पालन करें। ऐसी आज्ञाओं को, चाहे नैतिक दृष्टि से संगत अथवा असंगत हों, परन्तु वह व्यक्ति अथवा व्यक्तिसमुदाय चाहे जनता की सम्मति से बलपूर्वक मनवा सकता हो अथवा दण्डशक्ति के द्वारा मनवा सके-मनवाने में समर्थ अवश्य हो। जब तक ऐसा कोई व्यक्ति नहीं अथवा व्यक्तिसमुदाय नहीं तब तक राज्य का होना नहीं कहा जासकता। इस व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समुदाय की आज्ञा ही विधान है। वस्तुतः जो मनुष्य को अथवा सभी लोगों को मानने के लिये विवशतया अनिवार्य है वह आज्ञा ही विधान

है। हाब्स की दार्शनिक चातुरी इसे इस प्रकार स्पष्ट करती है, "मानव सर्वथा एक स्वार्थ का पुतला है। इसके साथ ही वह सामाजिक प्राणी भी है। वह अपने साथियों के सहवास में दुःख के अतिरिक्त और कुछ नहीं प्राप्त करता है। उसको सदा इनसे अपने जीवन का भय और घातकमृत्यु का ख़तरा रहता है। इस अवस्था के कारण मनुष्य आवश्यकता से विवश होकर किसी शक्तिशाली अधिकारी से सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। इसलिये विधान प्रचलन अथवा लोगों की स्वीकारी में अपना स्थान नहीं रखता बल्कि वह अपने आदमी की इच्छा और शक्ति में स्थान ग्रहण करता है। यह आदमी और शस्त्र है जो कि राज्य में विधान और शान्ति के स्थापन के उत्तरदायी हैं। हर एक आदमी को विधान का पालन करना पड़ता है चाहे उसे वह पसन्द हो अथवा न हो। परन्तु विधान का यह दर्शन समुचित भित्ति पर नहीं खड़ा है। मानव स्वभाव से स्वार्थी ही नहीं है। उसमें इसके साथ परार्थ, न्यायप्रियता, त्याग और उदारता आदि भी है। वह जहाँ अधिकार चाहता है वहाँ न्याय भी चाहता है। समाज में सबके साथ न्याय हो, किसी के साथ अन्याय न हो, इसलिए वह समाज का संघटन करता है उसकी यह न्याय-प्रियता विधान को बनाने का अवसर देती है—केवल स्वार्थ की पूर्त्ति के लिए मानव की इच्छा एवं शस्त्र विधान के हेतु नहीं हैं। केवल एक अंधेरे पक्ष को लेकर विधान-विज्ञान का विचार करना उपयुक्त नहीं। इस प्रकार तो मानवता पर एक प्रकार का कलङ्क होगा। विधि-विज्ञान-विशेषज्ञ म० सालमण्ड को इसीलिए निष्पक्षता पूर्वक लिखना पड़ा कि यह हाब्स प्रतिपादितवाद विधान में केवल एक तत्व है। यह नैतिकतत्व को जो कि विधान के विचार में उतना ही

अधिक आवश्यक है, बिल्कुल ही छोड़ देता है। सत्य और न्याय का विचार इस विषय में उतना ही आवश्यक है जितना कि शक्ति अथवा बल का विचार। विधान केवल सत्य अथवा केवल बल नहीं, अपितु दोनों का पूर्ण समन्वय है। विधान में प्रयुक्त होने वाले कर्तव्य, भला और बुरा आदि शब्द भी नैतिक-परिभाषायें हैं। यह बड़ा भारी दोष है कि विशुद्ध विध्यात्मक-विधान इस परमावश्यक तत्व को छोड़ देता है। इसमें यह भी दोष है कि बहुत से अविध्यात्मक नियमों का इसके अन्दर समावेश नहीं किया जाता, यद्यपि वे भी विधान माने जाते हैं। केवल विध्यात्मक विधान ही विधान कोटि में आते हैं यह कहना ठीक नहीं क्योंकि बहुत से ऐसे नियम भी विधान में सम्मिलित हैं और होना भी चाहिये, जो कि विध्यात्मक नहीं हैं। विधान के वे स्वीकृत नियम जो यह घोषित करते हैं कि अमुक आचार बुरा नहीं है, इसके अन्तर्गत हैं और विधान माने जाते हैं। किसी प्राचीन धार्मिक भावना के विपरीत सम्मति रखना कोई अपराध नहीं है। यह ही यहाँ पर प्रथम उदाहरण के रूप में दिया जासकता है। इसी प्रकार विधान की सुनवायी के लिए होने वाली कार्यवहनविधि के नियम (Rules of Proceeder), समय समय पर घोषित होने वाले घोषणात्मक विधान, और चुनाव के मताधिकार सम्बन्धी विधान भी इसके अन्तर्गत विद्यमान हैं। इनके रहते हुए यह नहीं कहा जासकता कि केवल विध्यात्मक-विधान ही विधान की कोटि में आते हैं। वास्तव में विध्यात्मक, अविध्यात्मक और नैतिकतत्व मिल कर विधान के वाद को पूरा करते हैं। कोई भी विधान का विज्ञान केवल विध्यात्मक-तत्व के ऊपर ही नहीं खड़ा हो सकता और यदि खड़ा होगा तो होगा भी दोष पूर्ण। न्याय-व्यवस्था भी दो प्रकार की होती है। उन्हें नैतिक और वैधानिक

न्याय कहते हैं। प्रथम एक आदर्श वस्तु है और दूसरी वह है जो विधान के द्वारा मानी गयी हो, घोषित हो और न्यायालय ने उसे लागू किया हो। यद्यपि न्यायालय एवं विधान की कचहरियों का उद्देश्य यही है कि नैतिकन्याय के उद्देश्य को पूरा करें परन्तु यह कार्य पूर्णरूप से नहीं हो पाता क्योंकि वर्तमान विधान अपूर्ण होने से नैतिकन्याय के अथवा कर्तव्य के पूर्ण वातावरण को नहीं प्राप्त करने देते। कभी कभी तो ऐसा होता है कि विधान ऐसा न्याय लागू करता है जो वास्तविक न्याय नहीं है और न वास्तविक सत्य ही है। वह केवल वैधानिक अधिकार और कर्तव्यों से ही सम्बन्ध रखता है। यही कारण है कि म० सालमण्ड को कहना पड़ा कि "वैधानिक न्याय और नैतिक-न्याय एक परस्पर खण्डित करने वाले वृत्त को प्रदर्शित करते हैं। नीतिमत्ता से तात्पर्य उन आचार के नियमों से है जो कि किसी समाज के जनसमुदाय की सम्मति से स्वीकृत हैं। ये नियम कचहरियों के द्वारा लागू और सुरक्षित नहीं किये जाते अपितु जनता की सम्मति पर चलते हैं। नैतिक नियम वास्तव में एक प्रकार के ऐसे प्रयत्न हैं जिनके द्वारा कोई समाज नैतिक अथवा स्वाभाविक अधिकार और न्याय को संप्रदाय के लोगों पर लागू कर सकता है। वैधानिक न्याय एक ऐसा प्रयत्न है जो विधान-सभाओं द्वारा और कचहरियों द्वारा लागू किया जाता है। नीतिमत्ता के नियमों के पालन में समाज का भय, परमात्मा का भय और कर्तव्य च्युति का भय कार्य करता है परन्तु विधान में राज्य का दण्डभय कार्य करता है। एक व्यक्ति यदि असत्य भाषण करके कोई स्वार्थ सिद्ध करले तो ज़्यादा से ज़्यादा समाज उसे बुरा कहेगा एवं उसे अगले जन्म में बुरा फल मिलेगा इसका भय लगा हुआ है–फिर भी यदि वह इनकी अवहेलना करके

असत्यभाषण करता ही है तो कोई रोकने वाला नहीं। परन्तु वही व्यक्ति यदि किसी न्यायालय में असत्य भाषण कर कोई उद्देश्य पूरा करले और यह प्रकट होजावे तो वह दण्डार्ह होगा। विधान उन्हीं अधिकारों को स्वीकार करता है जो उसकी दृष्टि से अधिकार की परिभाषा में आते हैं। वह दान, परोपकार और कृतज्ञता जैसे नैतिक अधिकारों को नहीं स्वीकार करता है। हाँ, इनको यदि विधान के अनुसार दान-पत्र आदि लिखाकर दिया गया है तो ये भी उसके क्षेत्र में आजाते हैं। एक व्यक्ति कोर्ट में यह मांग नहीं उपस्थित कर सकता कि अमुक व्यक्ति ने उसे दान नहीं दिया—इसलिये उसे दिलाया जावे और उसका हर्जाना भी साथ में मिले। परन्तु यदि किसी व्यक्ति ने दान-पत्र के द्वारा कोई संपत्ति किसी को देदी है तो उस दान के पात्र का वह अधिकार विधानतः रक्षित हो सकेगा। नीति का विधान के साथ यद्यपि सम्बन्ध है परन्तु वह दार्शनिक है। व्यावहारिक सम्बन्ध में नीति का प्रयोग विधान में पूर्णतया नहीं देखा जाता। किसी अल्पवयस्क कन्या के साथ बलात्कार विधानतः अवैध है परन्तु यदि अत्याचारी यह सिद्ध करदे कि उसका उसके साथ विवाह हो चुका है तो वह अपराध नहीं गिना जावेगा। नैतिकनियम इस दिशा में इतने शिथिल नहीं हैं। किसी को पराई स्त्री अथवा पराई वयस्क कन्या से व्यभिचार करना नैतिकदृष्टि से पाप है परन्तु विधान की दृष्टि से उससे बचाव के लिये इतना ही पर्याप्त है कि उनकी रजामन्दी इसमें थी। एक व्यक्ति भूखा मर रहा है और दूसरा धनी उसको दिखला दिखलाकर खा रहा है। यदि भूखा आदमी उसकी रोटी को छीन कर खा जावे और उसके यहाँ से कोई वस्तु भूख मिटाने के लिए और भी ले लेवे तो उस पर बलात् और चोरी के अपराध विधानतः लग सकते हैं। परन्तु वह

भूखा तड़प तड़प कर मरजावे और उक्त धनिक उसे रोटी का टुकड़ा न देवे तो यह कार्य नीतिमत्ता की दृष्टि से बुरा होने पर भी विधानतः कोई अपराध नहीं बन सकता। यही कारण है कि देश में भूखे तड़प तड़प कर भी लोग मरते हैं परन्तु धनिकों के महलों के अट्टहास में कोई न्यूनता नहीं आती।

इन सब बातों के होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि समाज में अथवा राष्ट्र में बिना नीतिमत्ता के नियमों के पालन किये केवल विधान सुख और समृद्धि नहीं ला सकते हैं। थोड़े विधान में जितनी हानि है उससे अधिक हानि है अत्यधिक विधान में। अधिक विधान का आश्रय अत्याचारी शासक अपनी मनमानी चलाने में लिया करते हैं। चोरी करना जुर्म है, किसी को गोली मारना जुर्म है। परन्तु सैनिक क़ानून और आर्डिनेन्सों के द्वारा वही जायज़ कर लिये जाते हैं। यदि राज्य का संघटन नैतिकमूल पर न होवे तो इस अधिकार की तलवार के रहते हुए संसार में सुख और शान्ति किस प्रकार संभव हो सकेगी। जब तक मानव में और समाज में विधान की पृष्ठभूमि में नीतिमत्ता का भय न लगा हो विधान समाज की व्यवस्था को नहीं चला सकते। किसी अपराध के लिये जहाँ निग्रहकारी विधान हैं—वहाँ उन विधानों के चँगुल से बचने के उपाय भी हैं। यदि अधिकारी, अपराधी को दण्ड मिलना चाहिए और अधिकारी का कर्तव्य सत्य का पालन तथा न्याय का स्थापन करना है, इसे नैतिकदृष्टि से अपने आचार का अङ्ग न बनावें तो अपराधी छूटते रहेंगे और अनपराधी फँसते रहेंगे। विधान ज्यों का त्यों बैठा रहेगा। विधान की सफलता तब है जब कि उस के संरक्षक और जनता दोनों नैतिकदृष्टि से उसकी सफलता को अपना कर्तव्य समझें। बालविवाह-निषेध का विधान ज्यों का त्यों बना है परन्तु बाल-

विवाह होते रहते हैं क्योंकि ज्योतिषियों की कुण्डलियां, डाक्टरों के वयस्कता के प्रमाणपत्र और पुलिस की सहानुभूति थोड़े से चाँदी के टुकड़ों में आसानी से प्राप्त की जासकती है। इसलिये कहना पड़ेगा कि विधान बिना नीति के सफल नहीं हो सकता। विधान का पालन क्यों होता है कि उसके पीछे राष्ट्र का भौतिक-बल (Physical Force) दण्डशक्ति (Sanction) के रूप में विद्यमान है। वैधानिक न्याय क्यों मान्य है इसलिये कि न्यायकर्त्ता उच्च नैतिकस्तर का है और वह सर्वोच्च अधिकारी है। साथ ही यह भी सिद्धान्त माना गया है कि सर्वोच्च अधिकारी (Sovereign) कोई ग़लती नहीं करता वह जो कुछ करता है ठीक ही करता है। इसलिये वह अन्तिम अधिकारी है कि जिसके न्याय में किसी अनियम और त्रुटि की संभावना नहीं है और वह सर्वथा, सर्वदा सर्व-मान्य है। न्याय की व्यवस्था कचहरियां करती हैं। परन्तु यदि कोई आपत्ति है तो उसकी अपील उच्च न्यायालय में हो सकती है। उसके फैसले की भी अपील सर्वोच्च न्याया-लय अर्थात् सुप्रीम-कोर्ट में हो सकती है। उससे भी अधिक करने के लिये कोई व्यक्ति राष्ट्रपति से प्रार्थना कर सकता है। उसका फैसला सर्वमान्य है। उसके उपरान्त और कोई अधिकारी नहीं। यद्यपि मानव में त्रुटि का होना स्वाभाविक है परन्तु फिर भी विधान और न्यायनिर्णय में यह मान लिया गया है कि अन्तिम अधिकारी कोई ग़लती नहीं करता। वह जो कुछ करता है वह ठीक ही करता है। नीतिनियमों और नैतिकन्याय के निर्णय में यह अधिकार परमेश्वर में निहित है परन्तु विधान की दृष्टि से यह अधिकार सर्वोच्च अधिकारी में निहित है चाहे वह व्यक्ति हो अथवा समुदाय हो एवं राज्य हो। परन्तु साथ ही यह माना हुआ है कि उच्च अधि-

कारी नीति से भ्रष्ट नहीं है। यदि ये अधिकारी और न्यायालय नीतिभ्रष्ट हों और इनमें नीति का कोई स्थान न हो तो न्यायव्यवस्था में कितनी गड़बड़ी हो जावे, कल्पना भी नहीं किया जासता है। वैधानिक न्यायनिर्णय भी अपने बलाबल के लिये नीति पर आश्रित है। नीति के आदर्श को सदा उच्च रखकर ही विधान के आदर्श को पूरा किया जासकता है। अन्यथा समाज में अव्यवस्था फैल जावे। यही नीति और विधान का सम्बन्ध है।

सप्तम सोपान

नीति और सौन्दर्यानुभूति

मानव चैतन्यमय प्राणी है। यह अपने चारों ओर की सृष्टि का अनुभव प्राप्त करना चाहता है। वह उसे देखता सुनता है और उसका प्रतिवेदन तथा छाप उस पर पड़ती है। वासनात्मक रूप में भिन्न भिन्न वस्तुओं के प्रतिबिम्बचित्र उसमें अङ्कित होते रहते हैं, और तदनुरूप ही संस्कार बनते रहते हैं। मनुष्य की जितनी ही इस दिशा में निरीक्षण-पटुता बढ़ती जाती है, सृष्टिप्रसार और उसका वैचित्र्यवैभव उतना ही व्यापकरूप में उसे प्रभावित करता रहता है। ज्यों ज्यों प्रकृति के संसर्ग में जीवजगत् आता जाता है उसके साक्षात्कार से अनुभव उतना ही विशाल और व्यापक होता जाता है। यह निरीक्षण और साक्षात्कार मानव-अनुभव में प्रचुर वृद्धि करता है। उसमें शनैः शनैः स्मृति, इच्छा, कल्पना आदि शक्तियों का पल्लवन होता है और सदसद्विवेकबुद्धि का विकास होता जाता है। उसको आस पास के सृष्टि पदार्थों के अनुभव से इस अनुभव की इच्छा और आवश्यकता बढ़ती जाती है। वह इस अनुभव में भी सत्, असत्, उचित, अनुचित का विचार करता है। मनुष्य की आवश्यकता के कारण जो वस्तुएँ उपयोगिता के अनुसार मानव के प्रयोगक्षेत्र में आती जाती हैं उनमें वह भले बुरे के भाव का भी निश्चय करता है। मानव के ये अनुभव-संस्कार और वृत्तियां दृढ़ होते जाते हैं और

उसके चैतन्यगुण के विस्तार से उसकी बोधवृत्ति भी सुव्यव स्थित तथा परिपुष्ट होती जाती है। जिस व्यक्ति अथवा जिस समाज की ये वृत्तियां जितनी अधिक मात्रा में व्यापक और समन्वयपूर्ण हैं, वह व्यक्ति एवं समाज उतना ही सभ्य और समुन्नत समझा जाता है। यह भी एक स्वभावसिद्ध बात है कि जिस प्रकार चेतन मानव पर बाह्य सृष्टि के विवध वस्तुओं की छाप पड़ती है, उसी प्रकार उसमें उनके भिन्न भिन्न प्रभावों के व्यक्त करने की शक्ति का भी उन्मेष होता है। यह शक्ति मानवमात्र के अस्तित्व के साथ लगी हुई है। मानव के शारी रिक तथा मानसिक संघटन के मूल में इस शक्ति का समावेश है। उसकी अन्तरात्मा अपने चारों ओर की सृष्टि को जिस रूप में ग्रहण करती है उसे उसी रूप में व्यक्त करना भी चाहती है। बाह्य-जगत् मनुष्य पर सुख-दुःख, रूप-विरूप, हित-अहित आदि की जो भावनायें उत्पन्न करता है उनको अभिव्यक्त करना मनुष्य के लिये अनिवार्य-सा है। मानवमस्तिष्क का निर्माण ही कुछ इस प्रकार से है कि वह अपनी इस प्रवृत्ति को रोक नहीं सकता। मानव की यह वृत्ति ही "अभिव्यंजना" शक्ति के नाम से व्यवहृत की जाती है। इस अभिव्यंजना क ही कला का नाम भी दिया ज़ाता है। यद्यपि ऐसा है कि यही कला है परन्तु सम्पूर्ण अभिव्यंजना कला नहीं कही जासकती। मानव की शक्ति के अन्तर्गत यह भी है कि वह केवल भिन्न भिन्न रूप में अनुभव से प्राप्त प्राकृतिक चित्रों का उद्घाटन ही न करे, बल्कि उनके सम्बन्ध में अपना मत, सिद्धान्त एवं नियम भी प्रकट करे। मानवबुद्धि में यह सामर्थ्य और विशेषता है कि वह केवल वस्तुओं का चित्राङ्कन ही नहीं करती है प्रत्युत उनकी मीमांसा, उनका श्रेणी-विभाग और नियमनिर्धारण आदि भी करती है। मनुष्य केवल कलाकार ही नहीं दार्शनिक

भी होता है। वह अपने सूक्ष्म-दर्शन और विश्लेषण से सृष्टि-चक्र के विषय में विवेचन, विश्लेषण और श्रेणी-विभाग करता है। वह सूक्ष्मसिद्धान्तों को व्यक्त करता है। ये ही व्यक्त किये गये सिद्धान्त ज्ञान की सामग्री बनजाते हैं। इस प्रकार से ही भिन्न भिन्न वैज्ञानिक तथ्यों का निरूपण तथा दर्शन-विज्ञान की प्रतिष्ठा होती है। परन्तु यह दार्शनिक सिद्धान्त-समुच्चय और वैज्ञानिक तथ्य कला नहीं हैं। यद्यपि ये भी मनुष्य की अभिव्यंजनाशक्ति के ही अंग हैं। तर्कशास्त्र की विविध प्रणालियां और प्रक्रियायें कला की श्रेणी में नहीं आसकतीं। कला का सम्बन्ध नियमों के निर्धारण से नहीं किन्तु उसका कार्य रूप की अभिव्यक्तिमात्र है। बाह्य जगत् की भिन्न भिन्न वस्तुओं का—एक एक का—प्रतिबिम्ब मानस मुकुर पर जैसा पड़ता है कला का सीधा सम्बन्ध उसी से है। वह सदा व्यष्टि से संपर्क रखती है नियमनिर्माण और सिद्धान्त-समुच्चय उसकी सीमा के बाहर है, इतिहास के क्षेत्र को भी कला से सम्बद्ध माना जाता है क्योंकि उसमें नियमनिर्धारण नहीं होता केवल व्यक्तियों के चरित्र का चित्रण होता है। फिर भी यह नियम है कि इतिहास में केवल स्थूल घटनाओं तथा वास्तविक व्यक्तियों का ही चित्रण किया जाता है। उसमें कला का पुट तो है परन्तु कल्पना की गति उस प्रकार अबाध नहीं रहती जैसी कि अन्य कलाओं में होती है। कला की व्यापकता इतिहास की अपेक्षा अधिक है। मनुष्य की अनुभूतियों, कल्पनाओं और उसके संपूर्ण ज्ञान का एक एक बृहदंश कला का विषय बन सकता है। भिन्न-भिन्न वैज्ञानिक अनुसंधानों, दार्शनिक तथ्यों तथा तार्किक सरणियों के सांगोपाङ्ग वर्णन भी कला के ही घेरे में आते हैं। न्याय शास्त्र के नियम यद्यपि कला नहीं कहे जासकते परन्तु वे इस प्रकार सजा कर उपस्थित किये

जासकते हैं कि उनमें कला फूट पड़े। निष्कर्ष यह है कि मनुष्य की भावनाओं का जहां तक विस्तार है वह सब कला का विषय है और यह तो विदित ही है कि मानव भावनाओं का विस्तार विराट् और प्रायः सीमा रहित है।

पाश्चात्य विपश्चित मनुष्य की मानसिक क्रियाओं को तीन विभागों में विभक्त करते हैं—ज्ञान, भावना और इच्छा। भारतीय शास्त्रों में ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न के नाम से यह विभाग दिखलाया गया है। भारतीय लोगों ने भावनाशक्ति को नहीं स्वीकार किया है। यही दोनों में अन्तर है। मनोविज्ञान के अनुसार ये शक्तियां एक दूसरी से अविच्छिन्नरूप में मिली हुई हैं और अलग अलग नहीं की जा सकतीं। यद्यपि कला के मूल में भावनाशक्ति का प्राधान्य पाया जाता है परन्तु उसका विश्लेषण करने पर उस में भी ज्ञान और इच्छा की शक्तियां अन्तर्हित दीख पड़ती हैं। भारतीय साहित्य और कलाओं के मूल में जो स्थायी-भाव माने गये हैं वे केवल विक्षिप्त व्यक्तियों की विवेक-भावनायें नहीं हैं अपितु उनके साथ ज्ञान-शक्ति का भी समन्वय है। यदि ऐसा न होता तो कलाकार और पागल में कोई भेद न रह जाता। अतः यह मानना पड़ेगा कि भावना के साथ इच्छा का भी सन्निवेश अवश्य रहता है। मनुष्य की ज्ञानशक्ति उसकी भावनाओं को चैतन्यमय बनाती है और उसकी इच्छाशक्ति उन्हें श्रृंखलित तथा संयमित रखती है। इस प्रकार इन तीनों के संयोग से कलाओं द्वारा मानवहित का संपादन होता है और मनुष्यों में सदाचार की प्रतिष्ठा होती है। यदि भावनाशक्ति के साथ ज्ञानशक्ति का समन्वय न होता तो कलायें इस उन्नत रूप को प्राप्त ही नहीं हुई होतीं। यदि भावनाशक्ति के साथ इच्छा का सामंजस्य न होता तो कलाओं की उच्छृंखलता का रोध अत्यन्त असंभव

हो जाता। मनुष्य की इच्छाशक्ति के साथ लोकहित का सम्बन्ध है और इसी कारण सभ्यता की वृद्धि तथा लोक-मंगल की कामनाओं की ओर इसकी इच्छायें उन्मुख हैं। आहार, निद्रा, भय और मैथुन जहाँ मनुष्य में और पशु में समान रूप से है वहाँ मनुष्य में इनके साथ लोकोपकारी वृत्तियों का उदय भी हुआ और वे इस मानव के मानसव्यापार में अपना स्थान रखती हैं। मानव की निरन्तर बढ़ने वाली विवेकशक्ति और सतत-वर्द्धिनी इच्छाशक्ति उसकी भावना-शक्ति के साथ अभिन्न रूप में लगी है और ये तीनों मिलकर कला एवं मानवसमाज का विकास करने में तत्पर हैं। मानव के मानस-व्यापार के साथ ही साहित्य का सम्बन्ध है। पहले उसे ज्ञान का उन्मेष होता है, फिर भाव उठता है और फिर कर्म करने में प्रवृत्ति होती है। यह क्रम पहले के मनोवैज्ञा-निक मानते थे। अब इस क्रम पर विवाद है परन्तु फिर भी यह बात सर्व सम्मत है कि मानस-व्यापार तीन प्रकार का ही होता है और वह है—ज्ञान-प्रधान, भाव-प्रधान और कर्म-प्रधान। भारत में इन्हीं के आधार पर ज्ञान, भक्ति और कर्म-योग के मार्गों को जन्म मिला। कर्म का प्रत्यक्ष व्यवहार प्रत्येक के अनुभव में आता ही है। ज्ञान दर्शन, विज्ञान आदि के शास्त्रों को उद्भव देता है और भाव का सम्बन्ध साहित्य के अनुत्कट सुकुमार जगत् से बंधता है। इसी कारण साहित्य में भाव की प्रधानता मानी जाती है। अस्तु, प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों और चेष्टाओं का प्रभाव मनुष्य पर पड़ता है और वे ही उसकी अभिव्यंजना के विषय बनते हैं। उसके मन में भाव उत्पन्न करते हैं। इस दृष्टि से कला और प्रकृति का निकटतम सम्बन्ध है। प्रकृति का जो दृश्य उसके मन में अपनी विशेषता एवं उसकी अभिरुचि के कारण चित्रित होता है उसी को

वह कलाओं द्वारा व्यक्त करता है। प्रकृति से उसकी वासनाओं की तृप्ति होने के कारण मानव उसकी ओर स्वभावतः आकृष्ट रहता है। इस निसर्गसिद्ध आकर्षण का परिणाम यह होता है कि मनुष्य प्रकृति के दृश्य-चित्रों को अपने हृदय के स्फुट रस से सींच कर अभिव्यक्त करता है और वे ही भिन्न भिन्न कलाओं के रूप में प्रकट होकर मानवहृदय को रसान्वित करते हैं। यही भारतीय वाङ्मय में 'रस' के नाम से विख्यात है। परन्तु यह एकान्तिक नहीं कि इसकी अभिव्यक्ति केवल साहित्य से ही हो—अन्य कलाओं से भी इसकी निष्पत्ति होती है। किसी प्राकृतिक दृश्य की भावना कलाकार के हृदय में जितनी तीव्रता एवं स्थायित्व के साथ उत्पन्न होगी, यदि वह उतनी ही सत्यता के साथ उसे व्यक्त करने में समर्थ होगा तो उस अभिव्यक्ति के दर्शक, श्रोता अथवा पाठक समाज की भी उतनी ही तृप्ति होगी। मनुष्य के हृदय-साम्य का यही गूढरहस्य है कि कलाकार के अन्तरङ्ग का सच्चा भाव उसकी 'कला वस्तु' में निहित होकर अधिकाधिक मानव-समाज को रसान्वित करने में समर्थ होता है।

यह तो ठीक ही है कि सभ्यता के विकास के साथ साथ मनुष्य में भले बुरे का ज्ञान भी दृढ़ होता है। उसकी विवेक-शक्ति से भले बुरे के ज्ञान को पृथक् नहीं किया जासकता। यही कारण है कि आचार मानव की प्रकृति का एक अंग बन गया। संपूर्ण कला और साहित्य में मनुष्य के आचार की छाप पड़ी हुई है। मनुष्य की विवेक बुद्धि उसकी इच्छाओं पर संयम रखती है और इससे उसकी भावनायें परिमार्जित रहती हैं। इन परिमार्जित भावनाओं से संपन्न कलायें सदैव मनुष्यसमाज की सद्वृत्तियों की प्रतिकृति होती हैं। जो देश और जाति जितनी सभ्य, परिष्कृत, आचारवान् होगी उसकी

कला कृतियां भी उतनी ही अधिक सुन्दर होंगी। इसलिये यह सुतराम् मन्तव्य है कि कला निर्माण में आचार का महत्व-पूर्ण स्थान है। पाश्चात्य विद्वानों ने कुछ वाद खड़े किये हैं जिनके आधार पर वे यह धारणा बनाते हैं कि कला में आचार को स्थान नहीं। वे वाद हैं–मनोविश्लेषणवाद, यथार्थवाद और कला-कलार्थ-वाद। मनोविज्ञान की जानकारी का गर्व करने वाला प्रथमवाद यह प्रस्तुत करता है कि कविता और कलाएँ मनुष्य की कल्पना के परिणाम हैं। कल्पना का विश्लेषण करते हुए ये कहते हैं कि समाज में सभ्यता और समाज-व्यवस्था के कारण हमारी जो इच्छायें दबी रहती हैं–वेही कल्पना में आती हैं और कल्पना द्वारा कलाओं में व्यक्त होती हैं। कलाओं में शृंगार का आधिक्य इसका प्रमाण बतलाया जाता है। इस वाद के आचार्य फ्रायड महोदय हैं और इन्होंने स्वप्नविज्ञान की रचना करके भी इस वाद को पुष्ट करने का प्रयत्न किया है। परन्तु यदि विचार करके देखा जावे तो यह सिद्धान्त अर्द्धसत्य ही ठहरेगा और कलाओं का अनिष्ट करने में सहायक बन सकता है। यदि स्वप्नसिद्धान्त की बात को स्वीकार कर लिया जावे तो कलाओं से आचार का बहिष्कार करना पड़ेगा। परन्तु वस्तुस्थिति इससे विपरीत है। अपवाद सर्वप्रत्यक्ष है। यदि कोई कवि एवं कलाकार किसी सुन्दर रमणी के सौन्दर्यानुभव से चित्र अङ्कित करता है तो इसका यही आशय नहीं है कि वह कल्पना-जगत् में अपनी विलास-वासना की पूर्त्ति करता है। अथवा किसी साधु सन्त का चित्र अङ्कित करता है तो उसका सदा यही तात्पर्य नहीं कि वह स्वयं साधु-प्रकृति का और सदाचारी है। संसार के श्रेष्ठ कलाकारों ने अनेक प्रकार की कला-सृष्टियां की हैं। स्वप्न सिद्धान्तनुसार उनकी मनोवृत्ति की छान-बीन करना लाभप्रद

नहीं। हां!! यह वास्तविक है कि संसार की अब तक की श्रेष्ठ कला-कृतियां अधिकांशतः विवेकी और आचारनिष्ठ पुरुषों द्वारा प्रस्तुत की गई हैं।

दूसरे यथार्थवाद के पक्षपाती मनुष्य के शरीरसंघटन का विश्लेषण करके यह प्रकट करते हैं कि उसकी मूल वृत्तियां आहार, निद्रा आदि शारीरिक आवश्यकताओं की तृप्ति के लिये ही होती हैं। इनके अतिरिक्त जो मनुष्यों की उदात्त वृत्तियें हैं, केवल सभ्यता के निर्वाह के लिए हैं। परन्तु यह पक्ष भी साररहित है। मनुष्य और पशु में महान् अन्तर है। मनुष्य धार्मिक वृत्तियों के उन्नतिशील विकास का सदैव प्रयास करता है। सभ्यता का विकास ही क्या कम कार्य है। उसमें भी तो आचार का स्थान है। चिरविकासशील सभ्यता के पालन की आवश्यकता समझ कर मनुष्य सदाचार का अभ्यास करता है और अभ्यास-परम्परा से वह आचार उसके शरीर एवं मानसिकसंघटन का अविच्छेद्य अंग बन जाता है। यदि आहार, निद्रा आदि स्वाभाविक वृत्तियें ही सब कुछ हैं तो उनके नियंत्रण की भावना मनुष्य में क्यों कर आयी। इसका भी तो कोई कारण है-यदि है तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि आचार का इनके द्वारा होने वाली कला में कोई स्थान नहीं। एक ही रमणी के सौन्दर्य का वर्णन करते समय कलाकार कभी मातृ-दृष्टि की प्रधानता से और कभी स्त्रीसामान्य आदि की दृष्टि से प्रवृत्त होता है। क्या उसका यह कार्य भी पूर्वोक्त रूप का ही है। कहना पड़ेगा कभी नहीं। एक सुन्दरी के सौन्दर्य को देखना और कला के साथ काव्य का रूप देना नेत्र-मैथुन या दुर्व्यवहार नहीं कहा जासकता।

तीसरे पक्ष का यह विचार है कि कला कला के लिये है

और इस प्रकार आचार कला से बाहर की वस्तु है। यह भ्रान्ति वस्तुतः कला कला के लिए है—इसका अर्थ स्पष्ट न होने के कारण है। कला के विवेचन में वस्तुतः भिन्न भिन्न कला-वस्तुओं का एक एक करके विवेचन कर सकते हैं अथवा दो या उससे अधिक कलासृष्टियों की अलग अलग तुलना कर सकते हैं। उन कलासृष्टियों के स्रष्टा भिन्न भिन्न मनुष्य होते हैं। सब मनुष्यों के विकास की परिस्थितियां भी भिन्न भिन्न होती हैं। मनुष्य अपनी परिस्थिति, देश-काल की परिस्थिति, सभ्यता, आचार, मनःशक्ति आदि का एक एक संग्रथित जटिल रूप है। जब वही मनुष्य कलासृष्टि करता है तब उसके द्वारा उत्पन्न कला का विवेचन करने में इन संपूर्ण जटिलताओं पर ध्यान रखना पड़ता है। जब एक व्यक्ति की एक कला-सृष्टि में इतनी जटिलतायें हैं तब समस्त संसार की कला कृतियों को लेकर भावभिन्नता का कहना ही क्या? उसकी तो कोई सीमा ही नहीं। उस अवस्था में "कला के लिये कला" का हमारे लिये केवल इतना ही अर्थ रह जाता है कि कला एक स्वतंत्रसृष्टि है। कला-सौन्दर्य और कला-अभिव्यंजना के कुछ अपने नियम हैं। उन नियमों का पालन ही 'कला के लिये कला' कहला सकता है। कला के विवेचन में उन नियमों के पालना के सम्बन्ध की चर्चा की जाती है और उस तथा साहित्य-सम्बन्धी शास्त्रों में उन्हीं नियमों का कोटिक्रम उपस्थित किया जाता है। इसे कलाओं की विन्यासपद्धति कहना चाहिये। इन नियमों का निरूपण कला के व्यक्तित्व को स्पष्ट करता है और मनुष्य के अन्य क्रिया-कलापों से उसकी पृथक्ता दिखलाता है। कलाकार की ओर से आँखें उठाकर केवल उसकी कला-वस्तु की परीक्षा की जाती है और इस परीक्षा में व्यापक कलातत्व ही समक्ष आते हैं। आचार, सभ्यता और

संसार के अन्य प्रश्न कला के लिये तात्विक नहीं हैं। वे तो केवल एक एक कलाकृति की पृथक् पृथक् विवेचना करने पर उपस्थित होते हैं। यह है "कला कला के लिये है" का अर्थ। इसका तात्पर्य कला से आचार के बहिष्कार से नहीं है। कलाका आचार से कोई सम्बन्ध नहीं यह इससे स्फुट नहीं होता है। इससे तो इतना ही व्यक्त होता है कि कलासम्बन्धी शास्त्र आचार सम्बन्धी शास्त्र से भिन्न है। कला सौन्दर्यानुभूति और उससे जागृत अभिव्यंजना पर आधारित है और उसमें आचार का सन्निवेश है। अन्यथा उच्छृंखलता का नियंत्रण ही कठिन हो जावेगा।

अष्टम-सोपान

कर्म-विपाक

पूर्व यह बतलाया जा चुका है कि मानवशरीर की प्रत्येक चेष्टा कर्म एवं क्रिया हैं। परन्तु कर्म-मीमांसा के क्षेत्र में केवल उसी चेष्टा को स्थान है जो इच्छापूर्वक है। शरीर की अनिच्छा-पूर्वक होने वाली चेष्टाओं का विचार कर्म-मीमांसा में अपेक्षित नहीं। प्रत्येक इच्छापूर्वक होने वाले कर्म ही यहाँ पर अभि-प्रेत हैं। शरीर की प्रत्येक चेष्टा को कभी कभी प्रवृत्ति शब्द-से भी व्यवहृत कर दिया जाता है। प्रवृत्ति इन्हीं पूर्वोक्त विभागों में विभाजित है। इच्छापूर्वक होने वाली प्रवृत्ति को तीन विभागों में विभक्त किया जाता है—वाचिक, कायिक और मानसिक। कोई भी इच्छापूर्वक शरीर की प्रवृत्ति एवं कर्म या तो वाचिक होगा या मानसिक होगा या कायिक होगा। ये तीनों प्रकार के कर्म अनिच्छापूर्वक कर्मों की भाँति नहीं हैं। ये अपना संस्कार करने वाले पर डालते हैं और स्वयं करने के अनन्तर नष्ट होजाने पर भी अपना प्रभाव शिष्ट रखते हैं। पृथ्वी में जिस प्रकार किसी वस्तु को सुरक्षित रखने की शक्ति है और किसी वस्तु का उसमें अत्यन्ताभाव नहीं होने पाता उसी प्रकार प्रत्येक कर्म का भी अत्यन्ताभाव नहीं होता और उसका संस्कार बराबर बना रहता है। बथुवे का बीज ज़मीन में पड़ा रहता है। बारह महीने खेत में जुताई सिंचाई आदि कार्य होते रहते हैं वर्षा आती है अन्य ऋतुयें भी आती हैं

हैं, परन्तु वह अंकुरित नहीं होता। कार्त्तिक का मास आते ही वह अंकुरित हो उठता है। पृथ्वी ने इतने दिनों तक उसे सुरक्षित रखा और उसका समय आने पर उसे अंकुरित होने का अवसर दिया। यही हाल कर्मों का भी है। वे संस्कार के रूप में अवशिष्ट रहते हैं और समय आने पर देश, काल, आदि के अनुसार उनका फल मिलता है। इच्छापूर्वक किया हुआ कोई भी कर्म विना फल के दिये समाप्त नहीं होता। उसका फल इस जीवन अथवा अगले जीवन में अवश्य भोगना पड़ता है। एक प्रश्न यह है कि बीज को तो पृथ्वी सुरक्षित रखती है परन्तु शरीर के नष्ट होने के पश्चात् मनुष्य के कर्मों के संस्कार को कौन सुरक्षित रखता है। इसके समाधान के लिए भारतीय दर्शन यह बतलाते हैं कि इस शरीर के अतिरिक्त हमारे शरीर में एक यांत्रिकशरीर भी है जिसे सूक्ष्मशरीर कहा जाता है। वह सूक्ष्मशरीर ही वास्तव में कर्म करता है और उसी में ये कर्म कपड़े में रंग की भांति लिपटे रहते हैं। जब आत्मा किसी स्थूल शरीर को छोड़ने लगता है तब उसके साथ यह सूक्ष्मशरीर भी इसे छोड़ देता है और आत्मा के साथ जाता है। जिस प्रकार वायु गन्ध को ले जाता है उसी प्रकार यह सूक्ष्मशरीर आत्मा के साथ जाते हुए इन कर्मों के संस्कारों को भी ले जाता है। उसी के अनुरूप फल की सिद्धि दूसरे जन्मों में हुआ करती है। स्थूल शरीर तो आत्मा के सदा कर्मानुसार मरने और जन्म लेने के माध्यम द्वारा बदलते रहते हैं परन्तु सूक्ष्मशरीर तब तक उसके साथ एकही रहता है जब तक कि वह प्रकृति से सम्बन्ध छोड़ने की स्थिति में नहीं हो जाता। अस्तु जो भी हो। इस प्रकार कर्म का फल होता है। वह इस जन्म में भी मिलता है और अगले जन्म में भी। कर्मकर्त्ता आत्मा नित्य और शाश्वत है अतः उसे उत्तरदायी होना

पड़ता है अपने सभी भले बुरे कर्मों के लिये। यह उत्तरदायित्व जन्म-जन्मान्तर से सम्बन्ध रखता है। यदि आत्मा का भी शरीर के साथ नाश होता होता तो कर्म फल का कोई प्रश्न ही नहीं होता परन्तु ऐसा नहीं अतः कर्मविपाक को मानना ही पड़ता है। संसार में प्रत्येक के सुख-दुःख में बिना किसी ऐहिक विघ्न बाधा के पड़े हुए भी भिन्नता और विचित्रता देखी जाती है। इस विचित्रता का कारण पूर्वकृत कर्म हैं। मनुष्य उत्पन्न होता है और मरता है। उत्पन्न होना और मरना दोनों ही एक दुःख हैं। मरकर उत्पन्न होना तो एक महान् दुःख है। इसका नाम शास्त्र में 'प्रेत्यभाव' है। यह आत्मा के साथ तब तक है जब तक उसका और प्रकृति का अज्ञानजन्य सम्बन्ध टूट नहीं जाता है। मरकर आत्मा पुनः शरीर पूर्वकर्मानुसार धारण करता है—इसमें लोगों का मत भेद है। परन्तु यह यहां पर विचारणीय नहीं। हां, यह एक सर्वसम्मत बात है कि बहुत से ऐसे व्यक्ति पाये गये हैं जो अपने पूर्वजन्मों की बातें बताते हैं और परीक्षा करने पर ये बातें ठीक उतरी हैं। भारतीय आयुर्वेद में इन्हें सत्वभूयिष्ठ कहा गया है और ऐसे व्यक्तियों को पूर्वजन्मों का स्मरण होता है—यह भी माना गया है। मृत्यु के त्रास को अभिनिवेश दुःख कहा गया है। यह प्रत्येक प्राणी को होता है। परन्तु जब उसने इस जन्म में मृत्यु का अनुभव किया ही नहीं तो फिर उसे यह मृत्यु का भय क्यों है। अनुमान हमें वहां पहुँचाता है जहां पर यह मानना पड़ता है कि पूर्वजन्म में उसने मृत्यु का दुःख भोगा है और उसकी स्मृति से यह भय उसे होरहा है जबकि उसने इस जन्म में मृत्यु के दुःख का अनुभव नहीं किया है। सुख और दुःख, जन्म तथा मरण, उसमें प्रशस्तता अप्रशस्तता पूर्वकृत कर्मों के कारण है। यह कर्म भी प्रवृत्ति से है और प्रवृत्ति का कारण राग और

द्वेष हैं। राग और द्वेष एक प्रकार से मिथ्याज्ञान के प्रसव हैं। इस प्रकार कारण-क्रम के अन्वेषण से यह परिणाम निकलता है कि दुःख जन्म से है और जन्म कर्म से है। कर्म राग और द्वेष तथा राग द्वेष का चक्र भी मिथ्या ज्ञान से प्रवृत्त है। जब तक मिथ्याज्ञान नष्ट नहीं होता बार बार राग द्वेष, पुनः प्रवृत्ति और पुनः उसके फल में जन्म और पुनः सुख दुःख तथा उसका साधन शरीर और पुनः उस शरीर में मिथ्याज्ञान से कर्म और पुनः शरीर आदि उत्पन्न होते रहेंगे। इस तरह यह चक्र बराबर चलता रहता है।

कृतकर्म का फल भले बुरे के अनुसार होता है। भले कर्म का फल सुख और बुरे कर्म का फल बुरा होता है। मानव प्रत्येक क्षण में कुछ न कुछ कर्म करता ही रहता है। जीवन में किये प्रत्येक कर्म का फल कितना क्या और किस मात्रा में होता है–बतलाना असंभव है। इसलिए कर्मों को भले अथवा बुरे के विभाग से साधारणतया पुण्य और पाप के नाम से व्यवहृत किया गया है। पुण्य का फल अच्छा और पाप का फल बुरा माना जाता है। इन पाप और पुण्य कर्मों के फल अनेक प्रकार के होते हैं परन्तु सब फलों का और वह किस कर्म से हुआ बतलाना कठिन है। उन फलों का भी विभाग करके तीन कोटियां निर्धारित की गयी हैं–जाति = जन्म, आयु और भोग। जन्म से पशु, पक्षी, मनुष्य आदि जन्म अभिप्रेत हैं। जन्म से लेकर मरने पर्यन्त एकसी बने रहने को जाति कहते हैं। यह पशु, मनुष्यादि, जातियें जन्म से मरण पर्यन्त रहने वाली हैं। गुणकर्म से होने वाली जातियां जिन्हें वर्ण कहा जाता है जाति की परिभाषा में नहीं आतीं। आयु सर्वसाधारण को विदित ही है। भोग शरीर में होने वाले सुखदुःख आदि भोग हैं। जन्म पूर्वकर्म से मिलता है उस जन्म में होने वाली

आयु और उसमें मिलने वाले सुख दुःख भी पूर्वकृत कर्म से होते हैं। ये ही तीन फल कर्म के माने गये हैं और हैं भी वस्तुतः फल के अर्थ में सार्थक ये ही। कर्मफल को ही कर्म के विपाक के नाम से कहा जाता है। यह विपाक इन्हीं तीनों प्रकारों का होता है। फल परिणाम अर्थ में और विपाक पकने के अर्थ में होता है। फल तो कर्म के इस जन्म में भी होते हैं और दूसरे जन्म में भी। एक ही कर्म के दो फल भी हो सकते हैं। परन्तु विपाक जो कर्म के पकने के बाद होता है उस फल का नाम है। कर्म करने मात्र से ही फल दे देता है ऐसा नहीं अपितु वह पकता है। कई कर्म मिलकर भी एक फल पैदा करते हैं-इसलिए विपाक पद का व्यवहार होता है। फल और विपाक दोनों का प्रयोग इस प्रकार होता है। यद्यपि कर्मों के फल जाति, आयु और भोग हैं परन्तु इनमें मुख्य फल जाति ही है। वह जन्म से मरणपर्यन्त एकसी रहती है। परन्तु आयु और भोग पर इस जन्म के कर्मों का भी प्रभाव पड़ता है। जाति तो पूर्वकर्म से ही बनती है परन्तु पूर्वकर्मों से प्राप्त भोग और आयु में इस जन्म के कर्म का प्रभाव पड़कर भी न्यूनता अधिकता हो सकती है। जाति मृत्यु पर्यन्त बदलती नहीं परन्तु आयु बदल सकती है। आयु को घटाने बढ़ाने का अधिकार है और वह इस जन्म के कर्म से भी होसकती है। ब्रह्मचर्य आदि के पालन से आयु बढ़ती और उनके न पालने से वह घटती है। शरीर पूर्वजन्म के कर्मों से मिला है परन्तु उसको जीवित रखने के लिए इस जन्म में भी खाने पीने नीरोग रखने आदि के कर्म करने ही पड़ते हैं। यदि कोई खाना पीना सदा के लिए छोड़ देवे, अथवा साधनान्तर से इस शरीर को नष्ट करना चाहे तो पूर्वजन्म के कर्मफल मात्र से ही यह शरीर बना नहीं रह सकेगा। भोग के विषय में भी यही बात है कि

वह घटाया बढ़ाया जासकता है। परन्तु यह घटती बढ़ती केवल पुण्य कर्म के फल जो सुखात्मक हैं उन्हीं में होसकती है। पाप के दुःखात्मक फल में नहीं। सुख की सामग्री को मनुष्य स्वयं न भोग कर दूसरे को दे सकता है परन्तु दण्ड को किसी दूसरे को नहीं देसकता है। उसे स्वयं भोगना पड़ता है। किसी आदमी को यदि किसी उत्तम कर्म के बदले में पुरस्कार मिले तो वह किसी दूसरे को दे सकता है परन्तु किसी बुरे कर्म के बदले में यदि उसे प्राणदण्ड अथवा दूसरा दण्ड मिले तो वह किसी को नहीं देसकता, उसे स्वयं ही भोगना पड़ेगा। भोग के विषय में यही भेद है। इन फलों को देने वाली एक व्यवस्थापक सत्ता है जो जीवों के प्रत्येक कर्म की उसके फल के साथ व्यवस्था करती है ऐसा भारतीय दर्शन मानते हैं। इसे ही परमेश्वर के नाम से माना जाता है। इस सत्ता के कार्य जहाँ सृष्टि की रचना, पालन और संहार है, वहाँ जीवों के कर्मानुसार फलदेना भी उसी का कार्य है। कुछ लोग कहते हैं कि कर्म का फल रासायनिक है किसी फलदाता की आवश्यकता नहीं। परन्तु ऐसा मानने पर कर्मफल में कोई व्यवस्था नहीं रह जावेगी। अफीम न खाने वाले को थोड़ी भी मात्रा में खाने पर नशा करती है परन्तु खाने वाले अभ्यस्त लोग गोले के गोले निगल जाते हैं और कोई नशा नहीं होता है। यही हाल मद्य और गाँजा आदि का भी है। यदि कर्मों का फल इसी प्रकार रासायनिक माना जावे तो फिर ज्यादा पाप करने के अभ्यासी को उसका कोई फल ही नहीं होगा और साधारण कर्म वाले को वह अधिक फल देदिया करेगा। इससे फिर कर्मफल में कोई नियम नहीं रह जावेगा। जो किसी भी हालत में ठीक नहीं है। दूसरे लोग यह मानते हैं कि ईश्वर अपनी ओर से जैसा चाहता है करता है जो चाहता है देता

और लोगों को ऊँचा नीचा बनाता रहता है। इसमें जीवों के कर्मों की कोई अपेक्षा नहीं। लेकिन यह विचार भी ठीक नहीं। नियम यह है कि जो जिस कर्म का करने वाला है उसका उत्तरदायी भी वही है। कर्म करे दूसरा और फल भोगे दूसरा यह अन्याय होगा। यदि ईश्वर बिना कर्म किये जैसा चाहता है फल देता है तो उसका यह अन्याय है कि अकृत की प्राप्ति कराता है। यदि वह ही सब कुछ देनेवाला और बिना कर्म की अपेक्षा के तो परस्पर कर्म फलों में विषमता का कारण क्या है ?। जीव को कर्म करने में प्रेरक लोग परमेश्वर को मान लेते हैं–यहाँ भी वैसा ही दोष आता है। यदि कर्मों का प्रेरक परमेश्वर है तो भले बुरे का फल भी उसे ही मिलना चाहिए जीव को क्यों मिले। यदि मिलता है तो कृत की अप्राप्ति और अकृत की प्राप्ति का दोष आता है। वस्तुतः नियम यही है कि अपने किये का फल अपने को मिलता है दूसरे को नहीं और न दूसरे के द्वारा किये कर्म का फल ही दूसरे को मिलता है। ईश्वर न तो अपनी मर्ज़ी के अनुसार किसी को बिना कर्म की अपेक्षा के फल ही देता है और न जीवों के कर्मों का प्रेरक ही है। जीव कर्म करने में स्वतंत्र हैं और फल भोगने में परतंत्र हैं। फल भोग की व्यवस्था उनके कर्मानुसार परमेश्वर करता है न कर्म स्वयं अपना फल देते हैं और न जीव ही अपने आप अपने कर्मों के फलों की व्यवस्था कर सकता है। यदि जीव को स्वयं कर्मफल का दाता माना जावे तो असमर्थ ठहरेगा। जैसा कहा गया है कर्म का फल जन्म भी है। यदि कर्मानुसार किसी जीव को पशुयोनि मिलनी है तो वह इसकी व्यवस्था करने में किसी प्रकार भी समर्थ नहीं। यह सामर्थ्य तो परमेश्वर में ही निहित है। कभी कभी लोग यह प्रश्न भी करते हैं कि क्या किया हुआ पाप क्षमा नहीं हो सकता। जब परमेश्वर

दयालु है तो फिर वह किसी के पाप को क्यों नहीं क्षमा कर सकता है। इस समस्या का समाधान यह है कि किये पाप तो बिना फल भोगे किसी भी अवस्था में क्षमा नहीं हो सकते। किये कर्मों से तो फल भोग कर ही छुटकारा मिलता है। परमात्मा यदि पापों को क्षमा करे तो उसमें अन्याय करने का भी तो दोष आवेगा। जहाँ वह दयालु है वहाँ न्यायी भी है। न्यायकारी और दयालुता दोनों विरोधी धर्म नहीं हैं। न्याय वह है जो किसी के कर्म की अपेक्षा रखता है। दया वह है जो बिना किसी के कर्म की अपेक्षा के होती है। जीवों के कर्मानुसार फल देने के कारण वह न्यायकारी है और इस न्याय करने में वह स्वयं किसी के कर्म की अपेक्षा से नहीं प्रवृत्त है–अपितु परोपकार बुद्धि से वह ऐसा करता है–इसलिए दयालु है। जो भी हो जीव को उसके शुभाशुभ कर्मों के फल मिलते हैं और वे जन्म, आयु और भोग के रूप में। यहाँ पर एक प्रश्न यह होता है कि क्या एक कर्म का एक ही फल होता है अथवा दो भी हो सकते हैं?। जहाँ तक कर्मों का विश्लेषण करने से पता चलता है यही समाधान इसका हो सकता है कि एक कर्म का एक फल भी होता है और एक से अधिक भी होता है। समाज में एक व्यक्ति चोरी करता है उसे राज्य की तरफ से दण्ड मिलता है। दण्ड यद्यपि उस कर्म के अनुसार राज्य ने दिया–इसलिए कि यदि ऐसा न किया जावे तो समाज में व्यवस्था न रह सके। आगे समाज का कोई व्यक्ति चोरी कर्म न कर सके इसलिए यह राजदण्ड है। परन्तु भविष्य में आगे चलकर उसके दूसरे जन्म में उसका फल न मिले ऐसा नहीं। वह भी मिलेगा। क्योंकि उसमें इस कर्म की वासना बनी है उसका निवारण तो बिना उचित फल को भोगे नहीं हो सकता। आत्महत्या करने वाले को

यहाँ फल नहीं मिलता परन्तु दूसरे की हत्या करने वाले को यहाँ और दूसरे जन्म दोनों में फल मिलता है। यहाँ का फल गौण होता है और वहाँ का फल मुख्य होता है। इस प्रकार कर्म के फल दृष्ट, अदृष्ट और दृष्टादृष्ट फल वाले होते हैं। अर्थात् कुछ कर्मों का फल दृष्ट जन्म में ही होता है, कुछ ऐसे हैं जिनका फल अदृष्ट जन्म में अर्थात् भावी में होता है और कुछ ऐसे हैं जो इस और उस दोनों जन्म में फल देते हैं। जिन कर्मों की वासना नहीं बनती और फल देते हैं वे यहाँ पर ही फल देने वाले हैं जैसे सन्तति, धनप्राप्ति, लोकयश एवं शरीर-रक्षा के निर्वासनिक कर्म। जिन कर्मों का फल जन्मपरिवर्तन है वे सभी अगले जन्म में अर्थात् इस शरीर के छोड़ने के बाद मिलेंगे। परन्तु ऊपर कहे गये तथा अन्य कुछ कर्म ऐसे भी हैं जिनका इस जन्म और अगले जन्म में भी फल होता है। कर्म और फल का एक चक्र है जो सदा तब तक वर्तमान रहता है जब तक वासना का अत्यन्त उच्छेद न होजावे। कर्म से फल होता है, फल से पुनः वासना बनती है और वासना से पुनः कर्मों का प्रारम्भ होता है। अतः यह चक्र तब तक चलता ही रहता है जब तक अज्ञान की निवृत्ति न हो जावे। वासना अनेक जन्मों की हुआ करती है। जिस योनि में जो जीव उत्पन्न होता है उसमें उसके अनुसार ही दूध आदि पीने की प्रथम इच्छा इस वासना से ही हुआ करती है। बच्चा उत्पन्न होते ही माँ के स्तन से दूध खींचता है—यह उस वासना का ही फल है। वासना के चक्र को वास्तव में शास्त्रों में अनादि कहा गया है। यहाँ पर कर्म के फल के विषय में एक विचारणा परमावश्यक है। वह यह कि प्रत्येक जन्म कर्म से होता है क्योंकि जन्म कर्म का प्रधान फल है। प्रश्न यह उठता है कि एक कर्म एक जन्म का कारण है ? अथवा एक ही कर्म अनेक

जन्म देता है, या अनेक कर्म अनेक जन्मों को देते हैं अथवा अनेक कर्म एक ही जन्म को संपादित करते हैं। एक कर्म एक जन्म का कारण तो हो नहीं सकता क्योंकि ऐसा होने से बहुत से कर्मों के फल का अवसर ही नहीं आवेगा। एक मनुष्य के इसी जन्म में अनेकों कर्म होते हैं और पूर्वजन्मों के कर्मों को मिलाने पर तो उनकी संख्या अत्यन्त अधिक होगी। प्रत्येक कर्म को एक एक जन्म देने वाला मानने पर शेष कर्मों को फल का अवसर आना ही कठिन होगा और यह मानने योग्य नहीं। एक कर्म अनेक जन्म को यदि देने लगे तो और भी अनर्थ हो जावेगा क्योंकि एक ही कर्म से अनेक जन्म होते रहेंगे तो शेष कर्म बेकार होंगे और उनका फल ही नहीं हो सकेगा। यदि यह माना जावे कि अनेक कर्म एक जन्म को देने वाले हैं तो प्रश्न यह होगा कि वे अनेक जन्म एक साथ ही होंगे अथवा एक के बाद दूसरे इस क्रम से होंगे। प्रथम पक्ष संभव नहीं क्योंकि एक समय में ही अनेक जन्म हो नहीं सकते। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि का जन्म एक ही काल में एक जीव को प्राप्त नहीं हो सकता। यदि इन जन्मों को क्रमिक माना जावे तो पूर्व कहे हुवे दोष ही यहाँ पर भी आवेंगे। इसलिये यहाँ पर यही अभिसंधि माननी पड़ेगी कि जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त मध्य में किये गये सभी भले बुरे कर्मों का संस्कार-समूह विचित्र रूप में हुआ प्रधान और गौण रूप से मरण से अभिव्यक्त होकर परस्पर मिला हुआ मृत्यु को सिद्ध करके एक जन्म को पैदा करता है और वह जन्म उसी कर्म के अनुसार आयु वाला होता है। उस आयु में उसी कर्म के अनुसार भोग प्राप्त होते हैं। यह कर्माशय जन्म, आयु और भोग रूपी तीन फलों को देने वाला होने से त्रिविपाक कहा जाता है। परन्तु इसमें भी सूक्ष्म भेद है। दृष्ट अर्थात् इह जन्म से सम्बंध

रखने वाले कर्म संस्कार एक अथवा दो फल को देते हैं। उन फलों का सम्बन्ध भोग और आयु से ही रहता है जन्म से नहीं। परन्तु जैसा ऊपर कहा गया है कई कर्म के संस्कार मिलकर एक जन्म को उत्पन्न करते हैं उनमें भी किन्हीं का फल नियत है और किन्हीं का अनियत है। अज्ञान आदि क्लेश, उनसे हुए कर्म और पुनः उनके फल को अनुभव कराने वाली अनादिकाल से चली आने वाली वासनाओं से यह चित्त मछली फंसाने वाले जाल की भाँति ग्रथित है। ये वासनायें अनेक जन्मों की होती हैं। परन्तु कर्माशय जो होता है वह एक जन्म से ही सम्बंध रखता है। जो संस्कार स्मृति के कारण हैं वे ही वासना शब्द से कहे जाते हैं और वे अनादिकाल से चली आती हैं। जिनका फल निश्चित नहीं है—ऐसे अगले जन्म में फल देने वाले संस्कारों की तीन प्रकार की स्थिति होती है। बिना पके हुये ही उनका नाश हो जाता है अथवा मुख्य कर्मों में वे मिल जाते हैं और समय पर मज़ा चखाते रहते हैं। अथवा निश्चित फल देने वाले कर्मों से दबकर तब तक पड़े रहते हैं जब तक उनके अनुकूल देश काल नहीं आजाता। किस कर्म के फल का क्या देश और क्या काल हैं—इसका सम्यक् परिज्ञान न होने से यह कर्मगति विचित्र है और दुर्विज्ञेय है। एक कर्माशय एक ही जन्म देता है ऐसा भी नहीं—दो-दो जन्म भी होते हैं। उदाहरण के लिए एक उस बालक को लिया जासकता है जो उत्पन्न होने के मास दो मास अथवा वर्ष दो वर्ष बाद ही मर जाता है। उसने अपने इस जीवन में कोई कर्मकलाप तो किया नहीं क्योंकि ऐसा अवसर ही उसको प्राप्त नहीं हुआ। फिर उसका जो दूसरा जन्म होगा वह पूर्व-कर्माशय अथवा वासना से ही होगा। यदि यह माना जावे कि उसका जन्म ही नहीं होगा तो ठीक नहीं क्योंकि बड़ी संख्या में

ऐसे मरण के उदाहरण देखे जाते हैं—क्या सभी का मुक्ति का ही समय आया रहता है। मुक्ति के लक्षण भी उनमें कोई नहीं दृष्टिगोचर होते। दूसरी कल्पना को लीजिए एक जीव ने मनुष्य योनि में ऐसे कर्म किये कि वह पशु और उसमें भी शूकर की योनि में जन्म लेता है। उसका यह जन्म उसके पूर्व-कर्म का फल है। परन्तु शूकर से फल भोगने के बाद अब वह जिस योनि में जन्म धारण करेगा वह किस कर्म का फल होगा। शूकरयोनि में न कर्म का अधिकार है और न उसने ऐसा कोई कर्म किया ही। परन्तु जन्म उसका होगा अवश्य—इसलिये मानना पड़ेगा कि पूर्वकर्म की वासना से यह दूसरा जन्म उसका होगा। अतः यह ठीक है कि कर्माशय दो जन्मों को भी दे सकते हैं केवल कर्म नहीं। एक विचारणीय बात इस प्रसंग में यह भी है कि अत्यन्त नारकीय कर्म का फल इस जन्म में नहीं होता और अत्यन्त उत्कृष्ट वैराग्य आदि कर्म का फल उस जन्म में नहीं होता। अत्यन्त नारकीय कर्म का फल जन्मपरिवर्तन से सम्बन्ध रखता है जो कि एक जन्म के विद्यमान रहते हुए हो नहीं सकता। वैराग्य आदि कर्म वासना के नाशक हैं अतः उनसे अगला जन्म नहीं होता। सभी मरने के बाद उत्पन्न होंगे—यह प्रश्न विभज्य वचनीय है। वीतराग = वासनारहित नहीं पैदा होगा और दूसरे उत्पन्न होंगे—यही सम्यक् समाधान है। कर्म के इस फल के अनुसार ही विविध योनियों की कल्पना की गयी है। भारत में सर्वसाधारण धारणा ८४ लाख योनियों की है। वास्तव में योनियां असंख्य हैं। कर्मों के साधारण विभाग से ज्ञानी, कर्मकाण्डी और साधारण मनुष्य ये तीन विभाग होते हैं। ज्ञानी देव कहे जाते हैं। यज्ञ-यागादि कर्मों को करने वाले और वह भी फल की भावना से, पितर कहे जाते हैं। साधारण लोग पाप पुण्य के साधारण

कर्म वाले कहे जाते हैं। देव लोगों को उनके कर्मानुसार मोक्ष-सुखलाभ होता है। उनका मार्ग 'देवयान' के नाम से कहा जाता है। पितरोंको स्वर्गसुख मिलता है अर्थात् सुखविशेष ही मिलता है-इस मार्ग को पितृयाण कहते हैं। साधारण लोग "जायस्व" "म्रियस्व" पैदा होवो और मरो के मार्ग वाले हैं। ये कर्मों के भेद जीव का प्रकृति के साथ सम्बन्ध होने से अज्ञान की मात्रा के कारण हुआ करते हैं। प्रकृति में सत्व, रजस् और तमस् गुण हैं। इन गुणों के अनुसार ही मानव की वृत्तियें बनती हैं। उन वृत्तियों से तदनुरूप ही कर्म होते हैं और उसी के अनुरूप ही फल भी होता है। सात्विक कर्म का फल उच्च अवस्थाओं की प्राप्ति है। राजस् कर्म का फल मध्यम श्रेणी की अवस्था है और तामस् का फल जड़ता एवं अज्ञानमयी अवस्था है। इस प्रकार कर्मों की गति बड़ी ही सूक्ष्म है और उसकी इस सूक्ष्मता का विचार करते हुए यही कहना पड़ता है कि यह दुर्विज्ञेय है। हां, यह तो ठीकहै कि अच्छे कर्मों के फल अच्छे और बुरे कर्मों के फल बुरे होते हैं-परन्तु किस कर्म का क्या और कितना फल होता है-यह विशेष विवरण नहीं दिया जासकता है। कर्मविज्ञान पर विचार करते हुए भी फलविज्ञान पर अधिक नहीं कहा जा सकता।

मनुष्य जहाँ कर्म करने वाला प्राणी है वहाँ वह ज्ञान से भी युक्त है। उसके ज्ञान के अनुसार कर्म की इच्छा में अन्तर होता है। उसी के अनुसार प्रवृत्ति में भी अन्तर पड़ता है फिर कर्म में अन्तर तो अनिवार्य ही है। किसी की इच्छा फल की होती है और किसी की फल की इच्छा नहीं होती। वह कर्म के फल का त्याग कर केवल कर्तव्य समझकर उन्हें करता है। इस फल की इच्छा और अनिच्छा से भी कर्मों में और तदनुरूप ही उसके फल में महान् भेद हो जाते हैं। फल की इच्छा

से होने वाले कर्मों को सकाम और बिना फलेच्छा के कर्मों को निष्काम कर्म कहा जाता है। भावना और इच्छा का बड़ा भारी प्रभाव होता है। एक व्यक्ति यदि किसी की आँख निकाल दे तो वह अपराधी है परन्तु वही कार्य यदि सिविल-सर्जन करता है तो वह प्रशंसा का पात्र समझा जाता है। कारण यह कि कर्म एक होते हुए भी करने वालों की भावना में भेद है। एक की भावना दूसरे को हानि पहुँचाने की दृष्टि से है और डाक्टर की भावना उसके लाभ को दृष्टि में रख कर है। बच्चा माँ के ऊपर टट्टी फिर देता है और पैर से मारता भी है परन्तु उसकी भावना और कर्म की अयोग्यता के कारण यह कर्म पाप नहीं, यदि एक सयाना व्यक्ति ऐसा करे तो पाप समझा जाता है। इस प्रकार इच्छा और भावना का फल होता है। दान सभी करते हैं परन्तु सभी दानों को सात्विक नहीं कहा जा सकता। एक रुपये का दान भी नैतिक मूल्य को लिए हुए लाखों के दान से उत्तम हो सकता है। फल की दृष्टि से किये कर्मों के फल होते हैं निष्काम कर्मों के नहीं। फल की इच्छा फल को क्यों देती है इसका कारण है कि कर्म में राग द्वेष कारण होते हैं। ये राग द्वेष मिथ्याज्ञान के रूप हैं। फल की इच्छा से किये कर्मों में राग होता है। राग मिथ्याज्ञान का रूप है। इसलिए उसके साथ किया कर्म अवश्य ही फल देता है। क्योंकि सभी कर्मों का मूल अविद्या उसमें बह रही है। निष्काम कर्म में फलेच्छा के न होने से राग नहीं होता है—अतः उसमें अज्ञान का लेश न होने से वह फल नहीं देता। चने अथवा धान को खेत में डालने और समय पर पानी खाद देने से अंकुर निकलता है क्योंकि उसके साथ छिल्का लगा है। केवल दाल और चावल को खेत में डालने से उसमें अंकुर नहीं निकलता क्योंकि छिल्का साथ में नहीं लगा है। जिस

प्रकार छिल्का का होना अंकुर के लिये आवश्यक है उसी प्रकार अज्ञान का मूल में होना चाहे वह राग से हो चाहे द्वेष से परमावश्यक है। सकाम कर्म में यह राग एवं अज्ञान बना रहता है इसलिये फल होता है परन्तु निष्काम कर्म में इसका अभाव होता है अतः वह चावल जैसे अंकुर में समर्थ नहीं वैसे वह फलोत्पादन में समर्थ नहीं होता। इसलिये निष्काम कर्म को फलरहित कहा गया है। इसका विशेष पल्लवन करते हुए दर्शनों में कर्म की चार प्रकार की जाति कही गयी है। कृष्ण, शुक्लकृष्ण, शुक्ल और अशुक्लाकृष्ण। कृष्णकर्म दुरात्माओं के होते हैं। शुक्ल और कृष्ण कर्म साधारण जनों के होते हैं। तप स्वाध्याय और ध्यान वालों के कर्म शुक्ल होते हैं तथा वीतरागों, योगियों के कर्म न शुक्ल और न कृष्ण होते हैं। फल की इच्छा न होने से इन योगियों के कर्म शुक्ल नहीं होते और अज्ञान के न होने से कृष्ण भी नहीं होते। परन्तु अन्य प्राणियों के कर्म की वे तीन कोटियां होती हैं। इन त्रिविध कर्मों के जैसे फल होते हैं वैसी ही वासना का प्रकटीकरण होता है। उत्तम कर्म के विपाक से उत्तम वासना और अनुत्तम के विपाक से अनुत्तम वासना होती है। यह वासना का प्रकटीकरण इसलिए होता है कि वैसे ही संस्कार होते हैं। एक काल में न होने पर भी संस्कार के अनुसार ही वासना का प्रकटीकरण होता है। स्मृति और संस्कार में एकरूपता होती है। जैसा अनुभव होता है वैसे ही संस्कार होते हैं। ये कर्म वासनारूप होते हैं। जैसी वासना होती है वैसी स्मृति होती है। इस प्रकार संस्कारों से स्मृति, स्मृति से फिर संस्कार और पुनः वासना का चक्र बराबर चलता रहता है। वासनायें अनादि हैं। जब तक अविद्या दूर नहीं होती ये बराबर बनी रहती हैं। इनमें

पल्लवित होने वाली अविद्या जब तक समूल नष्ट नहीं होती तब तक वासना भी नष्ट नहीं होती। कर्म और फल, संस्कार और वासना, पुनः कर्म, पुनः फल और पुनः वासना–यह चक्र बराबर चलता रहता है। स्वर्ग और नरक की जो कल्पना कर्म-फल के सिलसिले में की जाती है वह सुख और दुःख के सम्बन्ध से है जिस शरीर में रहते हुए सुखविशेष की प्राप्ति हो वह स्वर्ग और जिसमें दुःखविशेष हो वह नरक है। इसी लोक और शरीर में स्वर्ग और नरक दोनों हैं। जितनी योनियां हैं सभी सुख और दुःख के कारण स्वर्ग एवं नरक के नाम से व्यवहृत हैं।

कभी कभी कर्म के विषय में विचार करते हुए लोग यह तर्क उपस्थित करते हैं कि कर्म तो इन्द्रियां और शरीर करते हैं फिर जीवात्मा को इसका फल भोगना क्यों पड़ता है? वस्तुतः यदि देखा जावे तो वे इस पहलू को भूल जाते हैं कि शरीर और इन्द्रियां परार्थ हैं, विना जीवात्मा की प्रेरणा और चैतन्य-शक्ति को लिये वे कर्म करने में समर्थ नहीं। अतः जिसके हेतु से कर्म होता है वही आत्मा ही उन कर्मों का उत्तरदायी भी है। लोहे की एक तलवार बनी है लोहार ने उसे बनाया है। यदि कोई व्यक्ति उससे किसी की गर्दन काट दे तो न तो खान जहाँ से लोहा निकाला है वह उत्तरदायी है और न बनाने वाला लोहार। केवल तलवार को चलाने वाला ही उसका उत्तरदायी है। साधन अपने आप तो किसी कर्म को करते नहीं जब तक साधक उन्हें वर्त्ते नहीं। साधन परतंत्र और साधक स्वतंत्र है। अतः कर्म का कर्त्ता होने से उत्तर-दायी भी वही है। कर्त्ता स्वतंत्र होता है अतः जीव ही कर्त्ता है और वह किसी कर्म के करने और न करने में स्वतंत्र है। परन्तु इसकी स्वतंत्रता कर्म के करने तक है–फल में यह

स्वतंत्र नहीं। कर्मों के फल का देने वाला ईश्वर है—इस मन्तव्य का खण्डन करने वाले यह तर्क करते हैं कि ईश्वर अपने भक्तों को कर्म का फल अच्छा देता होगा और न मानने वालों को बुरा। इस प्रकार उसमें भी राग द्वेष हुआ। जो राग और द्वेष वाला है फिर वह ईश्वर कैसे। इसका समाधान बहुत सरल है। ईश्वर तो न्याय करता है। उसे किसी से न राग और न किसी से द्वेष है। उसका कार्य न्याय की क्रियामात्र करना है। पाप करने वाले का स्वभाव पातकी होने से वह उसी क्रिया से पाप का फल भोगता है और धर्मात्मा का कर्म धार्मिक होने से उस स्वभाव का होने से वह उसके अनुरूप फल भोग लेता है। सूर्य की गर्मी सभी पदार्थों पर समान रूप से पड़ती है कोई फल अपने स्वभाव से पकता और सड़ता है और कोई अपने स्वभाव से हरा भरा होता है। सूर्य के ताप में इससे कोई द्वैधपना नहीं आता है। एक ही धूप बुखार वाले को जूड़ी पैदा करती है और विना बुख़ार वाले को गर्मी देती है। यही स्थिति ईश्वर के न्याय कर्म की है। उसे न किसी में राग और न किसी में द्वेष है। एक जटिल प्रश्न यहाँ पर लोग और भी उठाते हैं। वह यह कि ईश्वर सर्वज्ञ है। वह सब कुछ जानता है जीव के कर्मों को भी जानता है। फिर वह जीव को पाप करने से रोकता क्यों नहीं? वस्तुतः किसी वस्तु को जानना ही रोकने के लिये पर्याप्त नहीं। कर्म करने वाला स्वतंत्र है उसकी स्वतंत्रता का कोई अपहरण कैसे कर सकता है। दूसरी यह भी बात है कि जीव जिस समय जिस कर्म को करता है परमेश्वर उसको उसी समय वैसा जानता है। न पहले और बाद को। पहले जब कर्म का कोई अस्तित्व ही नहीं तो उसको कोई कैसे जान सकता है। जिस कर्म का अभाव है उस समय कोई उसे कैसे जानेगा और यदि अभाव

में भाव जाने तो अज्ञता है सर्वज्ञता नहीं। जो वस्तु है ही नहीं उसका न जानना भी सर्वज्ञता में कोई हानि नहीं पहुँचाता। शीशे में कोई सूरत न पहले और न बाद में दिखलायी पड़ती है। वह तभी तक दिखलायी पड़ती है जब तक शीशा सामने हैं। ईश्वर का ज्ञान भी भूत भविष्यत् की परिभाषा में नहीं आता है। जो होकर न रहे वह भूत और जो न होकर होवे उसका नाम भविष्य है। परमात्मा का कोई भी ज्ञान इस प्रकार का नहीं जो होकर न होवे और न होकर होवे–इसलिये वह भूत भविष्यत् दोनों से परे है। भूत भविष्यत् से परिच्छिन्न होना किसी वस्तु को काल के परिच्छेद में रखना है। जो काल के परिच्छेद में आती है वह वस्तु अनित्य होती है। ईश्वर देश और काल के परिच्छेद से रहित है। उसको काल नहीं घेरता अतः वह नित्य है और उसके ज्ञान में भी भूत भविष्यत् का भाव नहीं रहता। उसका ज्ञान सदा एक-रस वर्तमान रहता है। इसलिये जब भविष्य उसके ज्ञान में है ही नहीं तो फिर वह भविष्य को जानकर जीव को कर्म करने से रोके यह प्रश्न उठता ही नहीं। यह कोरा तर्क है और इसमें कोई तथ्य नहीं। भविष्य को न जानने से ईश्वर की सर्वज्ञता में कोई भेदन हीं आता और यदि किसी तरह यह भी थोड़ी देर के लिये मान भी लिया जावे कि वह जानता ही है तब भी इससे जीव के कर्मों के फल का जीव को न मिलना सिद्ध नहीं होता और न युक्तिसंगत ही है। जिन पाश्चात्य और पौरस्त्य विद्वानों ने ईश्वर की सर्वज्ञता का सहारा लेकर यह सिद्ध किया है कि कर्म का फल ऐसी स्थिति में जीव को नहीं मिलना चाहिये वह ठीक नहीं। यह तर्क केवल देखने के लिये है और ऐसे तर्क भारतीय दर्शनों में बहुत से मिलते हैं। परन्तु इसी ढंग पर इनका खण्डन भी कर दिया गया है। न्याय में एक

कोरे तार्किक का यह तर्क है कि संसार में कोई वस्तु नित्य नहीं सभी अनित्य है क्योंकि सब का उत्पत्ति और विनाश देखा जाता है। इस का मुँहतोड़ उत्तर गौतम ने यह दिया कि वादी के मत में मानी हुई सब पदार्थों की अनित्यता स्वयं अनित्य है अथवा नित्य है। यदि वादी उसे नित्य मानता है तो सब कुछ अनित्य है—यह कहना ठीक नहीं और यदि अनित्यता को अनित्य मानता है तो उसके स्वयं अनित्य होने से पदार्थों की अनित्यता सिद्ध नहीं होती। ऐसा ही दूसरा तर्क वेदान्त में यह उठाया गया है कि परमेश्वर को यह मालूम है कि वह कितनी दूर तक है या नहीं। यदि मालूम है तो वह एक देशी सान्त है और यदि नहीं मालूम तो सर्वज्ञ कैसे ? व्यास ने इसका उत्तर दिया है कि जो वस्तु जैसी हो उसका वैसा ही जानना सर्वज्ञता है। परमेश्वर अनन्त है अतः वह अपने को अनन्त ही जानता है। मैं यहाँ तक हूँ और यहाँ नहीं—यह प्रश्न ही उसके ज्ञान में नहीं उठता है। वह सर्वव्यापक, सर्वत्र और अनन्त है अतः अपने को जानता भी वैसा ही है।

कर्म और कर्म के फल को विना माने यह भी प्रश्न उठता है कि सृष्टि में यह विचित्रता क्यों है ? कई लोग कहते हैं कि यह ईश्वर की अपनी लीला है। उसका खेल है वह क्रीड़ा कर रहा है और विना कर्म ऐसी विचित्र सृष्टि बनाता है। परन्तु यह विचार सम्यक् नहीं। कोढ़ी बनकर कराहने में तो कोई लीला मालूम नहीं पड़ती—फिर यह क्यों हो रहा है। क्रीड़ा सुखार्थ होती है न कि दुःखार्थ । कोई भी समझदार दुःख के लिये प्रयत्न तो करता नहीं। फिर यह दुःख क्यों है ? कोई सुखी कोई दुःखी क्यों है ? इत्यादि में परमेश्वर का अन्याय ठहरेगा। अतः यही पक्ष समीचीन है कि सृष्टि की विचित्रता कर्म की अपेक्षा से है। इस प्रकार यह निर्धारित

किया गया कि कर्म चाहे भला हो अथवा बुरा वह अपना फल ईश्वर की न्याय-व्यवस्था से देता है। बुरे कर्मों का बुरा फल और अच्छे कर्मों का अच्छा फल होता है। इन्हीं कर्मों के फलानुसार जीवों को भिन्न भिन्न योनियों में जाना पड़ता है। कर्म के फल--जन्म, आयु और भोग-के भेद से तीन हैं। फल का भोगना आवश्यक है। कोई भी पाप क्षमा नहीं होसकता। उसका फल अवश्य भोगना पड़ेगा। अन्य कोई शरण नहीं।

—

नवम सोपान

भाग्य और पुरुषार्थ

पूर्व प्रकरण में यह बताया गया है कि कर्मों का चाहे वे अच्छे हों अथवा बुरे हों फल अवश्य होता है और वह फल भोगना पड़ता है। पूर्व जन्म में किये गये कर्मों का जो फल संचित है और मिला नहीं है उसे ही लोग भाग्य के नाम से पुकारते हैं यह भाग्य ही समय समय पर फलता है ऐसा विचार लोगों का है। जहाँ तक भाग्य का कर्म के फल के साथ सम्बन्ध है वह तो ठीक ही है। प्रत्येक को वह फल भोगना पड़ता है और मिलेगा ही परन्तु जो कुछ भाग्य में है वह ही मिलता अन्य कुछ नहीं—यह मन्तव्य ठीक नहीं। भाग्य के सहारे हाथ पर हाथ रखकर बैठने और यह कहते रहने कि भाग्य ही फलता है वर्तमान समय में पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं कातरता और कापुरुषता का लक्षण है। भाग्य में जो है वह तो मिलेगा ही परन्तु उससे पुरुषार्थ को नहीं छोड़ना चाहिये। भाग्य भी तो अन्ततोगत्वा पुरुषार्थ का ही फल है—फिर भाग्य को अकर्मण्यता से क्यों जोड़ा जावे। भाग्य का भी मिलता है और पुरुषार्थ का भी फल होता है। शरीर को ही प्रथम लीजिये भाग्य से मिला हुआ है परन्तु प्रयत्न करके उसका परिरक्षण न करने से केवल वह भाग्य पर ही नहीं ठहरा रह सकेगा। जब भाग्य में प्राप्त शरीर को रखने के लिये पुरुषार्थ की आवश्यकता है तब भाग्य में लब्ध होने वाले फलों के लिये पुरुषार्थ को क्यों छोड़ा जावे। पुरुषार्थ के बिना संसार

में कोई भी नहीं रह सकता। पुरुषार्थ के परित्याग के साथ केवल भाग्यवाद की शिला कर्म और उसके फल के दर्शन को ग़लत समझने के कारण पड़ी। लोग यह समझते हैं कि विना भाग्य के कुछ नहीं मिलता। 'पत्ता तक हिलता नहीं खिले न कोई फूल'। अपने कर्मों का ही फल सबको मिलता है और कुछ नहीं। अपने कर्मों के फल के अतिरिक्त और कुछ किसी को नहीं मिलेगा। जो कुछ प्राप्त होता है वह कर्म के फल में ही मिलता है। परन्तु यह सिद्धान्त यद्यपि बद्धमूल हो चुका है फिर भी वास्तविक नहीं। वास्तविक सिद्धान्त यह है कि मनुष्य को अपने कर्मों का फल मिलता है और दूसरे के कर्म के फल से नहीं अपितु कर्ममात्र से भी सुख दुःख हो जाता है फल तो अपने ही कर्मों का मिलता है परन्तु दूसरे के कर्म-मात्र का भी प्रभाव पड़ता है। मनुष्य के कर्म का फल जन्म, आयु और भोग हैं-यह पूर्व बतलाया गया। परन्तु प्रत्येक सकर्मक क्रिया किसी परिणाम को पैदा करती है। इसलिये कर्म पूरा तब होगा जब वह कोई परिणाम पैदा करे। एक व्यक्ति ने तलवार उठायी और किसी का गला काट दिया। यह तलवार चलाना कर्म है। परिणाम में दूसरे का गला कट गया। गले के कटने से जो दुःख हुआ उसे कर्म का फल तो कहा नहीं जा सकता। क्योंकि फल तो दण्ड आदि अभी मिलने हैं जो समय पर मिलेंगे। इसे केवल क्रिया का परिणाम कहना चाहिये। विना इस के कर्म पूरा नहीं होता। केवल तलवार उठाना ही पूरा अपराध नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार कर्म परिणाम पर पहुँचने तक कर्म ही कहलाते हैं। परन्तु दूसरे को कर्म का फल तो मिला नहीं फिर भी गला कट गया। यह केवल यही है कि दूसरे के कर्म का प्रभाव भी पड़ता है। कर्म-फल के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता-इस

विचार को मानने वाले कट्टरवादी तो यहाँ तक कहते हैं कि बिहार का भूकम्प और पाकिस्तान का रक्तपात भी लोगों के कर्मों का फल है। परन्तु ऐसा मानने वाले यह नहीं देखते कि वह कर्म फल के सिद्धान्त के कितने विपरीत जारहे हैं। क्या भूकम्प का जिनपर बुरा प्रभाव पड़ा सबके कर्म एक ही से थे और सब को बिहार में ही निवास मिला था। पाकिस्तान की स्थापना से जिन लोगों को धनजन की हानि उठानी पड़ी क्या सब एक ही समान कर्म वाले थे, उनमें धर्मात्मा कोई था ही नहीं। सबका भाग्य एक ही लेखनी से एक ही समय में लिखा गया था यदि वस्तुतः यह सब पापकर्मों का फल है तो फिर उनको सहायता पहुँचाना ही व्यर्थ है। क्या कर्मफल की व्यवस्था को भी अपने कार्य से कोई हटा सकता है। यदि हटा सकता है तो यह कहना ग़लत है कि कर्म के फल के विना कुछ नहीं होता और यदि नहीं हटा सकता तो फिर सहायता आदि कर्म किये ही क्यों जावें। इसका तो तात्पर्य एक तरह से पाप को बढ़ाना होगा। परमात्मा की व्यवस्था को टालने से वह भी अप्रसन्न होगा। परन्तु ऐसे अवसरों पर सहायता करने को वे ही लोग धर्म और परोपकार का नाम देते हैं। बिहार का भूकम्प यदि लोगों के कर्मों के फल में था तो कपड़े भोजन आदि की सहायता के पहुँचाने का क्या लाभ। क्या उसकी व्यवस्था को तोड़ कर परमेश्वर को यह चिढ़ाना नहीं है। परन्तु इस कर्म को भलाई कहा जाता है और साथ में यह भी जुड़ा है कि इसका फल आगे इसके करने वाले को उत्तम मिलेगा। तत्वक्-दृष्ट्या ये भूकम्प आदि घटनायें हैं। लोगों के कर्मों के फल नहीं। ऐसे अवसरों पर जो सहायता पीड़ितों की होती है उसे कर्मविधायकशास्त्र पुण्य कर्म कहते हैं और यह तभी संभव हैं जब कि पीड़ितों को इसका लाभ हो। यदि उनको लाभ पहुँचता है तब भी यह सिद्धान्त खण्डित हो जाता है कि

सब कुछ कर्म के फल से ही प्राप्त होता है और यदि नहीं मिलता तो फिर यह उत्तम और पुण्य कर्म किस आधार पर है। जिस पीड़ित और सहायता के पात्र व्यक्ति को कोई वस्तु दी जाती है वह उसे लाभ पहुँचाने की दृष्टि से दी जाती है। यदि वह इसे अपने कर्मों का फल समझे तो देनेवाले को कोई श्रेय नहीं क्योंकि वह तो उसके कर्मों के फल में ही था कि उसे मिले। फिर यह पुण्य का कार्य भी नहीं हो सकता और न इसका पुनः कोई उत्तम फल ही मिलना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं, वस्तुस्थिति यह है कि यह प्रशस्त कर्म है और इसका उत्तम फल कर्त्ता को मिलता है। केवल भाग्य और कर्मफल के अतिरिक्त किसी को और कुछ नहीं मिलता इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर भलाई, बुराई, परोपकार और अनाचार आदि कर्म फिर कर्म नहीं रहजाते और इनकी स्थिति पूर्णतः समाप्त होजाती है। कल्पना कीजिये कि एक आदमी विना वस्त्र के हेमन्त के कठोर जाड़े में ठिठुरता हुआ कराह रहा है। उसे इस स्थिति में एक कम्बल एवं वस्त्र आदि का देना उत्तम दानकर्म माना जाता है। देश काल और पात्र को देखकर जो दान दिया जाता है वह सात्विक है और वही उत्तम दान है। परन्तु यदि जाड़े से ठिठुरे व्यक्ति के पूर्व कर्म का यह फल समझ लिया जावे तो फिर दानदाता के कर्म की स्थिति ही क्या रह जाती है। फिर तो सब कुछ उसके कर्म का फल ही हो गया देने वाले को कोई श्रेय नहीं। यह सब कुछ उसका पूर्व-कर्म ही उसे दिला रहा है दाता का इस कर्म के द्वारा भविष्य एवं अगले जन्म में उत्तम फल की इच्छा रखना व्यर्थ है। परन्तु शास्त्र भी कहता है और युक्तिसंगत भी है कि इस कर्म का उत्तम ही फल मिलेगा। पाप के विषय में भी यही आपत्ति है। एक व्यक्ति ने किसी के घर में चोरी की। चोरी में जो कुछ

मिला और उससे जो चोरित को दुःख हुआ यह उसके अपने कर्म का फल है जो इस रूप में इस साधन से उसे मिला। यदि यह वस्तुतः उसके कर्म का फल है तो यह होना अनिवार्य था और चोरी करने वाले के चोरी कर्म को पाप नहीं समझा जाना चाहिये और न उसे इसके लिए दण्ड ही होना चाहिये। परन्तु कोई भी समझदार व्यक्ति इसे स्वीकार नहीं करेगा। यही बात हत्या के विषय में भी है। यदि कोई व्यक्ति किसीकी हत्या करता है तो उसकी मृत्यु को उस हत्या किये जानेवाले के पूर्वकर्म का फल माना जावे या हत्यारे का स्वतंत्र कर्म माना जावे। यदि हत्या किये हुये व्यक्ति के कर्म का वह फल है तो हत्यारे को घात करने का पाप नहीं होना चाहिये और न दण्ड ही मिलना चाहिये। यदि यह हत्यारे का स्वतंत्र कर्म है तो इसका प्रभाव उस व्यक्ति पर क्यों हुआ कि उसकी मृत्यु हो गई। इसलिये कर्म की व्यवस्था को देखते हुये यही मानना चाहिये और है भी सिद्धान्तभूत बात कि मनुष्य को अपने कर्म का फल मिलता है और दूसरे के कर्ममात्र का भी उस पर प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक मानव को शरीर मिला है यह कर्मों के फल में मिला है। यदि वह इसे एक साल के अनशन व्रत पर रखदें तो पता चलेगा कि दो तीन मास में ही यह शरीर समाप्त हो जावेगा। वर्ष भर चलना तो दूर की बात है। अब विचारणीय बात यह है कि प्रथम तो कर्म का फल होने से इस पर दूसरे कर्म का प्रभाव पड़ना नहीं चाहिये। यदि पड़ता है तो कर्मफल के अतिरिक्त और कुछ भी प्रभावित नहीं करता, यह कथन ही त्रुटिपूर्ण है। यदि नहीं पड़ता तो विना खाये पिये भी शरीर को जीवित रहना चाहिये। फिर तो आत्मा-हत्या आदि के द्वारा भी शरीर को नष्ट नहीं होना चाहिये क्योंकि वह कर्म के फल रूप में मिला है। वैदिक कर्मों को यदि लिया जावे तो उनमें बहुत सी प्रार्थनायें ऐसी मिलती हैं जिनमें यह कहा

गया है कि विद्वानों के उत्तम कर्म हमें लाभकारी हों। इनके इन उत्तम कर्मों का फल तो हमें मिल नहीं सकता, फल तो उन्हीं को मिलेगा फिर कौनसी बात है जो हमारे लिये कल्याण-कारी हो—वह हैं उनके कर्म जिस प्रकार श्रेष्ठों के कर्म हमें लाभकारी हो सकते हैं वैसे ही बुरों के बुरे कर्म हमें हानि-प्रद भी हो सकते हैं। पूर्व प्रकरण में यह कहा गया है कि आयु और भोगरूपी फल पर इस जन्म के कर्ममात्र का प्रभाव पड़ता है फल का नहीं। आयु इस कर्म से घट बढ़ सकती है। एक धारणा इसी आधार पर यह भी घर कर चुकी है कि लोगों की आयु नियत है और असमय मृत्यु अर्थात् पहले और बाद में नहीं हो सकती। न आयु घट सकती है न बढ़ सकती है। परन्तु प्रत्यक्ष इसके विरुद्ध है। ब्रह्मचर्य आदि का न पालन करने से आयु घटती है और उनका यदि पालन किया जावे तो बढ़ेगी भी। आयुर्वेद अकाल मृत्यु के प्रमाणों से भरा पड़ा है। यदि किसी की मृत्यु नियत समय पर ही होती है तो मारने पर उसे मरना नहीं चाहिये। परन्तु यह अनुभवों के विरुद्ध बात है। आयु के ऊपर इस जन्म के कर्मों का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। किन्हीं साधनों से आयु बढ़ सकती है तो उनके अभाव में घट भी सकती है। शास्त्रों में न्यूनातिन्यून मानव-आयु १०० वर्ष की और अधिक से अधिक ३०० वर्षों की मानी गयी है—परन्तु आज १०० वर्ष तक तो शायद कोई ही जीता दिखलायी पड़ता है। यदि आयु इस जन्म के कर्मों से न्यून नहीं हो सकती तो फिर यह न्यूनता आयु की क्यों दिखलायी पड़ती है। कुछ लोग यह उदाहरण देते हैं कि जिस प्रकार १ मन धान्य को चाहे आदमी १० दिन में खा लेवे चाहे १ मास में उसी को खावे। धान्य तो मन भर ही है। उसी प्रकार आयु भी है नियत चाहे थोड़े दिन में समाप्त

करे चाहे ज़्यादा—आयु तो उतनी ही होगी जितनी है। परन्तु यह उदाहरण उनके विचार का समर्थक नहीं है। यह आयु के न्यून होने और अकालमृत्यु के पक्ष का ही साधक है। क्योंकि जब सब कुछ नियत है तो फिर कोई उसे १० दिन में और कोई १०० दिन में कैसे पूरा कर सकता है। दोनों में से किसी एक ही पैमाने पर समाप्त होना चाहिये। यदि भेद है और १० से १०० दिन तक कोई किसी वस्तु को लेजा सकता है तो उसे वह ५ दिन में भी तो समाप्त कर सकता है। यदि आयु आदि सब पूर्वकर्मानुसार ही निश्चित हैं और सुख दुःख में भी वर्तमान कर्म का कोई प्रभाव नहीं हो सकता—सब कुछ वही होता है जो पूर्व कर्म में निहित है तो फिर आयुर्वेदशास्त्र तो व्यर्थ पड़ जाता है। सभी रोग और सुख दुःख कर्मानुसार ठहराने पर उसकी आवश्यकता ही नहीं रहजाती, वह सुतराम् निरर्थक ठहरता है। आयुर्वेद का कार्य है कि वह औषधियों आदि के द्वारा आयु के मार्ग में आने वाली विपत्तियों का शमन करे। जब ऐसी सभी विपत्तियें पूर्वकर्मानुसार हैं और उनपर बाहरी कोई प्रभाव पड़ ही नहीं सकता तो फिर सारा उपाय ही व्यर्थ है। एक व्यक्ति को हैज़ा हो जाता है। उसकी दवा की जाती है वह ठीक हो जाता है। यदि यह बीमारी उसे पूर्वकर्म के अनुसार थी तो दवा का प्रभाव नहीं पड़ना चाहिये। यदि यह आगन्तुक है पूर्वकर्मानुसार नहीं तो फिर यह किस प्रकार कहा जा सकता है कि पूर्वकर्म से मिले पर अन्य किसी वस्तु का प्रभाव नहीं पड़ता जब कि इसका प्रभाव बराबर देखा जाता है। हैज़े और महामारी में लाखों आदमी मर जाते हैं। क्या सब की आयु एक साथ ही समाप्त थी। यदि ये बीमारियां पूर्व कर्मों के अनुसार ही आती हैं तो फिर उनके रोकने का उपाय भी करना व्यर्थ है। परन्तु कोई भी

बुद्धिमान् ऐसा स्वीकार नहीं करता है। अनेकों बकरे, गायें और अन्य पशु रोज़ कसाइयों के छुरे से कट जाते हैं—क्या सभी की आयु का यही परिणाम है। यदि ऐसा है तो फिर कसाई को अपराधी क्यों माना जावे। इसलिये सिद्धान्तभूत बात यही है कि मनुष्य को अपने पूर्व कर्मों का फल मिलता है और अपने अथवा अन्य के कर्म मात्र से भी सुख दुःख हो जाता है। ऐसा मानने पर भाग्य और पुरुषार्थ दोनों का सामंजस्य भी बना रहता है। केवल भाग्य पर ही यदि संसार रहे तो विश्व में अकर्मण्यता का वातावरण उत्पन्न हो जावे। जब शरीर की रचना ही मानव की ऐसी है कि वह क्षणमात्र के लिए भी विना कर्म किये रह नहीं सकता। प्रकृति के गुण सदा शरीर को कर्म में रखते हैं। यदि कोई थोड़े समय के लिये भी निष्क्रिय बैठ जावे तो शरीर में एक प्रतिक्रिया प्रबलता के साथ उठती है और सारी निष्क्रियता पर पानी फेर देती है। मन तो क्षणमात्र भी विना कोई क्रिया किये बैठ ही नहीं सकता है। वह जिधर चाहता है इन्द्रियों की गति को फेर देता है। जब शरीर की ऐसी स्थिति है तो फिर विना पुरुषार्थ किये कोई रह कैसे सकता है। अतः जीवन में भाग्य के साथ पुरुषार्थ को भी स्थान है। भाग्य को पुरुषार्थ के मार्ग में खड़ा नहीं करना चाहिये।

दशम सोपान

पशु-जगत् और कर्म-व्यवस्था

योनियों का भेद करते हुए मानव को कर्म और भोग दोनों योनि का प्राणी माना जाता है। पशु को केवल भोग-योनि कहा जाता है। देवत्व को प्राप्त हुए योगिजन आदि को केवल कर्मयोनि माना गया है। मनुष्य फल भी भोगता है और कर्म भी करता है परन्तु पशु केवल भोग ही भोगता है उसे कर्म करने का अधिकार नहीं। कर्म करने का अधिकार ज्ञानवाले को ही होता है। जो कर्म अकर्म के भेद के जानने का अधिकारी नहीं उसे कर्म करने का अधिकार ही कैसे हो सकता है। भोगयोनि का प्राणी होने और ज्ञान का अभाव होने से पशु-जगत् में कर्मव्यवस्था नहीं मानी जाती है। एक व्यक्ति यदि सहोदरी बहन के प्रति कोई अनाचार की भावना करता है तो उसे कर्म-मीमांसा-शास्त्र की दृष्टि से गर्ह्य कहा जाता है। परन्तु पशु-जगत् में यह व्यवहार गर्ह्य नहीं क्योंकि उनके लिये कर्तव्याकर्त्तव्य का कोई भी विधान नहीं है। भगिनी माता और स्त्री, पुत्री आदि का सम्बन्ध पशु में होते हुए भी कर्तव्य में उनका मनुष्य की भाँति वैसा स्थान नहीं है। यदि यह भेद कर्तव्य की दृष्टि से पशु-जगत् में भी होते तो मनुष्य और पशुत्व में कोई भेद नहीं होता। आहार, निद्रा, भय और मैथुन पशु और मनुष्य दोनों में समान है परन्तु मानवयोनि में कर्त्तव्याकर्त्तव्य की विशेषता है। पशुओं में कुछ प्राकृतिक

अड़चनों को छोड़कर इन्द्रिय संयमन एवं इन्द्रियों के व्यापार-संयमन की बात नहीं है। परन्तु मानव में इन्द्रिय और मन के व्यापार के संयमन में ही विशेषता है।

पशु-जगत् में यद्यपि ज्ञान का सर्वथा अभाव नहीं परन्तु जिसे ज्ञान कहा जाता है वह पशुओं में उस रूप में नहीं। मानव में स्वाभाविक ज्ञान के साथ विश्लेषणात्मक ज्ञान भी है। परन्तु पशु में रक्षात्मकज्ञान तो है विश्लेषणात्मक ज्ञान का अभाव है। वह अपनी रक्षा के लिये उपयोगी स्वाभाविक ज्ञान तो रखता है। पशु में रक्षात्मकज्ञान की विशेषता है जब की मनुष्य में वह निमित्त पर आधारित है। भैंस का बच्चा पैदा होते ही पानी में डालने पर तैरना प्रारम्भ कर देता है परन्तु मनुष्य के बच्चे में यह नहीं। बच्चे की बात तो दूर रही सयाने और बुड्ढे तक भी तैरना नहीं जानते। बया नाम का पक्षी एक कीड़े को मार कर अपने घोंसले में रखकर अपने घोंसले को प्रकाशित कर लेता है परन्तु बहुत से बयों ने मिल-कर बिजली का ईजाद नहीं किया जब कि मानव ने इसे इस रूप में बढ़ा दिया है कि आज समस्त कार्य लगभग विद्युत् से होने लगे हैं। बहुत से पशु ऐसे हैं कि जिनको आने वाली बीमारी का परिज्ञान हो जाता है परन्तु मनुष्य को यह ज्ञान नहीं होता। गौरी गौरा नाम के पक्षी हैज़ा आने से पूर्व घर को छोड़ देते हैं परन्तु घर में रहने वालों को अन्तिम समय तक भी इसका परिज्ञान नहीं होता। भूकम्प आने के पूर्व जानवरों को मालूम होजाता है मनुष्य को उसका परिज्ञान आने पर होता है। सुश्रुत में पशुओं और पक्षियों के द्वारा विषपरीक्षा का विशाद वर्णन मिलता है। विष से मिला भोजन यदि बन्दर के सामने रख दिया जावे तो वह सूंघकर छोड़ देता है। कई पक्षी ऐसे हैं कि देखते ही उसे पहचान

लेते हैं। हमें समय का परिज्ञान घड़ी से होता है परन्तु बहुत से पक्षी प्रातः दोपहर और संध्या का संकेत स्वभावतः कर देते हैं। उल्लू जिसे कभी कभी दोष का पक्षी कहते हैं होने वाली मृत्यु का परिज्ञान रखता है। बीमार आदमी हो तो लोग इसके बोलने को अशुभ मानते हैं। यहाँ तक कि ऋग्वेद में भी इसका वर्णन किया गया है। नेवले को सर्पदंश की जो औषधि परिज्ञात है वह बड़े बड़े वैद्य भी नहीं जानते। अथर्ववेद में उत्तम वैद्य वह कहा गया है जो नेवले द्वारा जानी गयी और वाराह द्वारा जानी गयी हुई भी औषधियों को जानता हो। कभी कभी तो पशुजगत् अपनी रक्षा के विषय में मानव से भी आगे बढ़ जाता है। कहते हैं कि बिल्ली को यदि कब्ज़ी होजाती है तो वह घास के सुकुमार तृणों को खाकर उसे दूर कर लेती है। कहने का तात्पर्य यह है कि पशु में अपनी रक्षा का ज्ञान तो है परन्तु मानव की भाँति विश्लेषणात्मक एवं कार्य-कारण-जन्य ज्ञान नहीं है। इसलिए मानव और पशु-जगत् में ज्ञान का यह महान् भेद है। मानव को इसीलिए सृष्टिकुलचूड़ामणि कहा जाता है। जब उसमें ज्ञान है तो कर्तव्याकर्तव्य का विधान भी उसी के लिए होना चाहिए। पशु-जगत् में बड़ा छोटे को दबाता है। बड़ी मछलियाँ जलचरों में छोटी को खाजाती हैं परन्तु उनके लिए कोई पाप नहीं लगता। मानव यदि ऐसा करता है तो वह पशुकोटि में गिना जाता है। शास्त्रीय कर्मों का विधान इसीलिए मानव के लिये तो हैं पशु के लिये नहीं क्योंकि पशु में उसकी योग्यता नहीं। एक मनुष्य रास्ते में जाते हुए यदि मनुष्यों को धक्का देता जाता है तो लोग उसे अशिष्ट कहते हैं। परन्तु यदि कोई सांड ऐसा करता जाता है तो उसे कोई भी अशिष्ट नहीं कहता। यदि कोई गाँवों को बर्बाद कर दे तो उसे लोग अत्याचरी कहते हैं परन्तु पशु यदि गाँव का गाँव नष्ट कर दें तो उन्हें कोई अत्याचारी नहीं कहता। स्मृतियों में कर्तव्य का विधान है। बालक के उत्पन्न होने के पूर्व से अर्थात् गर्भाधान से

लेकर मरण तक १६ संस्कार कहे हैं परन्तु पशु के लिए कोई भी नहीं। वहाँ न विवाह होते देखा गया और न असगोत्र एवं सगोत्र का ही कोई प्रश्न है। किसी को यह भी विचार की आवश्यकता नहीं कि कौन गम्या और कौन अगम्या है। वहाँ सभी समान हैं। न है यज्ञोपवीत और न वेदारम्भ। वानप्रस्थ और संन्यास का तो कोई उनके लिए प्रश्न ही नहीं। यह क्यों? इसलिए कि उनमें कर्म की योग्यता नहीं और वे भोग-योनि हैं।

यहाँ पर एक प्रश्न यह उठता है कि मनुष्य ही एक कर्म-योनि का प्राणी है। उसी को कर्म करने का अधिकार है। दूसरी पशु आदि की योनियाँ भोगयोनियाँ हैं। फिर यह निश्चित है कि मानव ही कर्मानुसार पशु आदि योनियों में जासकता है। दूसरों का तो कोई कर्म नहीं कि वे दूसरी योनियों में जावे। अर्थात् बाकी योनियाँ मनुष्यों में से ही जीवों के जाने से होती हैं। मनुष्य संख्या में इतने न्यून हैं फिर इतने अधिक पशु पक्षी आदि कहां से हुए। एक चींटी की बिल को खोदिये सारे मनुष्य की आबादी के इतनी चीटियाँ उसी में होंगी। फिर यह व्यवस्था किस प्रकार चल रही है। इसका समाधान यह है कि जीव अनन्त हैं और उनके कर्म और वासना का भी अनादि चक्र चलता आरहा है, इसलिए कोई कठिनाई नहीं आती। पशु मर कर भी पुनः पशुयोनि में जासकता है क्योंकि वासना तो समाप्त हुई नहीं। केवल मनुष्य ही पशु-योनि में अपने दुष्कर्मों से जाता है—यह ही एकान्तिक नहीं। पशु भी, पक्षी भी, चींटी आदि भी जब तक वासना की समाप्ति न होजावे पूर्वकर्म और वासना के अनुसार पशु और पक्षी आदि में उत्पन्न होते रहते हैं। यह भी प्रश्न लोग उठाते हैं कि मानवयोनि श्रेष्ठ है और उत्तम कर्मों का फल है। एक मनुष्य ने बुरे कर्म किये कि मरने के बाद उसे पशु-योनि मिली।

पशु-योनि से भोग समाप्त होने पर पुनः वह मानव-योनि में आया। पशु-योनि में कर्म का अभाव है फिर उसे यह मानव-योनि किस कर्म से प्राप्त हुई ? इसका समाधान यह है कि कर्मयोनि से ही भोगयोनि प्राप्त होती है। भोगों के समाप्त होजाने पर पुनः पूर्व की स्थिति में पूर्व की वासना से आना होता है। उसके लिए कर्म की आवश्यकता नहीं। कल्पना कीजिए कि एक व्यक्ति ने चोरी की। उसके दण्ड में उसे २ वर्ष का कारावास हुआ। कारावास की अवधि समाप्त होने पर वह स्वभावतः, उसी स्थिति में आवेगा जहाँ से गया था। इस स्थिति में आने के लिए उसे नये कर्म की आवश्यकता नहीं। ऐसे ही इस विषय में भी समझना चाहिए। पशुयोनि के भोग की अवधि समाप्त होजाने पर पुनः वह स्वभावतः जिस मानवयोनि से गया था वहाँ ही वापस आवेगा। उसे इस के लिये नये कर्म की आवश्यकता नहीं। मनुष्यादि ऊपर की योनियों को सत्व-विशाल योनि कहा गया है। रजोविशाला पशु आदि योनियें हैं। कृमि कीट और कई प्रकार के दूसरे जन्तु आदि तमोविशाला योनि कहे गये हैं। सत्व, रजस् और तमस् गुण सभी योनियों में होते हैं संसार का कोई भी प्राणी या पदार्थ इन गुणों से रिक्त नहीं। परन्तु कहीं पर कोई गुण प्रधान है और कहीं पर कोई। गुणवैचित्र्य से कर्मों में भी विचित्रता है। जिस समय शरीर में सत्वगुण की प्रधानता होती है उस समय ज्ञान का उदय होता है। जिस समय रजोगुण प्रधान होता है उस समय प्रवृत्ति और लोभ प्रकट होते हैं। तमोगुण की प्रधानता से प्रमाद और मोह का उत्थान होता है। यह तो शरीर में होने वाली भिन्न भिन्न अवस्था है परन्तु योनियों में इनकी प्रधानता स्थिररूप से भी रहती है। भोग योनि में यह गुणों का कार्यकलाप कर्म और विवेक के विषय में बहुत निम्न

स्तर का है अतः कर्म का विचार उनमें उठता नहीं।

कभी कभी मनुष्य के समान कर्म करते पशु और पक्षियों को भी देखा जाता है परन्तु उससे पशुयोनि में कर्म का अधिकार नहीं सिद्ध होता। बन्दर भी मनुष्य के कर्म का कभी कभी अनुकरण करता है परन्तु उन कर्मों का उसे कोई फल नहीं मिलता। वे कर्म केवल अनुकरणात्मक हैं। तोता भी ईश्वर नाम और मैना भी मंत्रों तक का उच्चारण सिखाने पर करती हैं परन्तु उनके इन कर्मों का न कोई संस्कार बनता है और न फल ही होता है। इसका प्रधान कारण यह है कि ये कर्म इच्छापूर्वक और ज्ञानपूर्वक चेष्टा नहीं है, केवल अनिच्छापूर्वक अनुकरणात्मक चेष्टा है। कर्म इच्छापूर्वक और अनिच्छापूर्वक भेद से दो प्रकार के हैं। कर्म की मीमांसा करते समय केवल इच्छापूर्वक होनेवाली शरीर की चेष्टाओं पर ही विचार किया जाता है। अनिच्छापूर्वक चेष्टाओं पर नहीं। शरीर में श्वास प्रश्वास आदि शरीर के रक्षोपयोगी अनेकों कर्म होते रहते हैं परन्तु उनका कोई फल नहीं है। इसी प्रकार तोते और मैने के द्वारा रटे गये वाक्यों का भी कर्म की दृष्टि से कोई महत्व नहीं। इनसे इन पक्षियों को न उत्तम गति ही मिलती है और न इससे उनपर कोई उत्तम संस्कार ही पड़ता है कि वह किसी उत्तम गति को प्राप्त करा सके। सभी उत्तम और प्रशस्त तथा न्याय्य कर्म धर्म की सीमा में आते हैं। धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, धी, विद्या, सत्य, अक्रोध—ये दश धर्म के लक्षण माने जाते हैं। धर्म की परिभाषा करते हुए भी दो प्रकार से विचार प्रकट गये किये हैं। पहला धर्म का लक्षण यह है कि जिसके करने में वेदादि सत्य-शास्त्रों की प्रेरणा पाई जावे वह धर्म है। पशुओं की रक्षा करो, हिंसा मत करो, सर्वदा सत्य बोलो, झूठ न बोलो, ब्रह्मचर्य का

पालन करो और सदा सबका भला करो, यज्ञ, दान आदि का संपादन करो–इत्यादि कर्मों के करने की प्रेरणा पाई जाती है, अतः ये धर्म हैं। इस प्रकार के अन्य जितने उत्तम कर्म हैं, वे भी धर्म कहे जाते हैं। दूसरा धर्म का लक्षण यह है कि जिससे अभ्युदय, और मोक्ष की सिद्धि हो वह धर्म है। अर्थात् इस लोक और परलोक तथा मुक्ति को सिद्ध करानेवाला धर्म है। इससे उत्तम कर्म और ज्ञान आदि सभी धर्म हैं—ऐसा भाव निकलता है। पशुजगत् में ये दोनों ही लागू नहीं हैं। किसी कर्म के करने की प्रेरणा और किसी को न करने की प्रेरणा उसको हुआ करती है जो इसके जानने की योग्यता रखता है। ऐसी योग्यता की योनि मानवयोनि है पशु आदि प्राणी नहीं। अतः मानव को तो इस धर्मतत्व का अधिकार है पशु को नहीं। अभ्युदय और निःश्रेयस का प्रश्न भी उसके अधिकारी योग्यतावाले के लिये ही है। पशुजगत् में यह योग्यता नहीं-अतः वह इससे भी रहित है। आत्म और परमात्म तत्व को समझने का भी यह पशु-जगत् अधिकारी नहीं। निष्कर्ष यह है कि कर्मों के करने का अधिकार देव और मानव को ही है। केवल भोग योनि पशु-जगत् को नहीं।

———

एकादश सोपान

कर्मयोग और भक्ति

कर्म का साङ्गोपाङ्ग वर्णन पिछले प्रकरणों में किया गया। अब थोड़ा सा विवेचन कर्मयोग और भक्ति के स्वरूप के विषय में किया जाता है। योग शब्द बहुत ही भ्रामक होगया है और कर्म के बाद समस्त होने पर तो उसका अर्थ ही अस्पष्ट सा लोगों को मालूम होने लगता है। वस्तुतः योग कर्म करने में कौशल एवं कर्म करने की विचित्र प्रणाली का नाम है और कोई अन्य वस्तु कर्मयोग नहीं। योग शब्द का अर्थ युक्ति और क्रिया तथा समाधि होता है। इसी समाधि अर्थ में पातंजल योग में भी व्यवहृत है। परन्तु उसमें भी विविध अङ्गों द्वारा कर्म के विशेष कौशल का ही वर्णन दिखलायी पड़ता है। योग दर्शन में जो चित्त के परिकर्म कहे गये हैं वे भी तो कर्म करने के विचित्र प्रकार ही हैं। अहिंसा आदि यमों और शौच आदि नियमों में भी यही भाव दिखलायी पड़ता है। चित्त की वृत्तियों का निरोध होकर जिससे समाधि सिद्धि हो और कैवल्य प्राप्त हो उसी कर्म के करने के विशेष प्रकार को ही पतंजलि ने भी यदि वस्तुतः देखा जावे तो योग माना है। समाधि की योग्यता आने और प्रातिभ ज्ञान की प्राप्ति पर्यन्त कर्मों की वैचित्री दिखलाई गई। मनु आदि ने भी कर्मयोग को वैदिक पुकारा है। शरीर में कर्म तो बराबर होते ही रहते हैं। उनसे रिक्त तो

कोई बैठ सकता ही नहीं, न उनका सर्वथा संन्यास ही किया जासकता है। हाँ, यह किया जासकता है कि कर्मों को किस कुशलता से किया जावे कि वे ऐहिक, आमुष्मिक, निःश्रेयस को सिद्ध कर सकें। कर्म को ज्ञानपूर्वक करने में ही कल्याण है। अज्ञान के साथ किये गये कर्मों में अनर्थ के अतिरिक्त और कुछ नहीं। कर्म करने की यह विचित्र शैली न तो कर्मों का सर्वथा परित्याग है और न अन्धाधुन्ध तरीके पर कर्मों के फलों में लिप्त रहकर कर्म का सृजन करते रहना ही है। विना कर्म के तो कोई बैठ सकता ही नहीं। फिर यही कर्म करने की विचित्रता हो सकती है कि कर्म के फल में लिप्सा न रखते हुए कर्तव्य-भावना से उन्हें करते रहना चाहिये। कर्म-संन्यास न करके अथवा अज्ञान-पूर्वक कर्म को न करके, ज्ञान-पूर्वक कर्म को करते हुए केवल फलेच्छा का त्याग करना ही वास्तव में कर्म की वह कुशलता है जिसको योग कहा जाता है। कर्मयोग का तात्पर्य यही है और इसीसे अन्तिम निः-श्रेयस-तत्व, जो मनुष्य का मुख्य उद्देश्य है, सिद्ध होता है। इस प्रक्रिया को निभाने में मन को इस योग्य बनाना पड़ता है और उसमें समत्व तथा आत्मभावना को भरना पड़ता है। वैराग्य-भावना और सुख-दुःख तथा मानापमान में मन की समत्व स्थिति लाये बिना कर्मयोग के पथ पर सफलता से चलना कठिन है। संसार क्या है? मैं क्या हूँ? परमात्मतत्व क्या है, इत्यादि बातों को समझ कर ही इसका पालन किया जासकता है। संसार-प्रकृति से उत्पन्न एक वृक्ष है। इस पर यह आत्मा और परमात्मा रूपी पखेरू बैठे हैं। संसार की जड़ें ऊपर नीचे को फैली हुई दृढ़ हैं। यह वृक्ष सत्व, रजस् और तमस् गुणों से बराबर बढ़ रहा है। संसार के भोग-रूपी विषय ही इस वृक्ष की कोपलें हैं। मनुष्य से लेकर विविध योनियाँ इसकी विभिन्न

जड़े हैं। परन्तु इन सब में कर्म का ही पानी वह रहा है जो इस वृक्ष को हरा भरा किये है। यदि कोई संसार से पार होना चाहता है और निःश्रेयस को पाना चाहता है तो उसे अपने लिये इस वृक्ष को काटना पड़ेगा। इस वृक्ष के काटने का साधन कर्म में आसक्ति का न रखना है। यह कर्म में अनासक्ति ही इस वृक्ष को इस प्रकार के कर्म करने वाले के लिये सुखा देगी। कर्मयोग की यही महती विशेषता है। स्तुति, प्रार्थना और उपासना कर्म में तीन क्रम अति प्रसिद्ध हैं। ये भक्ति के भी अङ्ग हैं। इनको इस कर्म में अनासक्ति रखने की ही भावना के साथ करना श्रेयस्कर होता है। स्तुति के अर्थ प्रशंसा, प्रशस्ति एवं गुणकथन है। गुणों का गान ही वास्तविक स्तुति है। परमेश्वर की स्तुति करने का तात्पर्य परमेश्वर के गुणों का वर्णन है। यह प्रार्थना के पूर्व की अवस्था है। बिना इसके प्रार्थना सफल नहीं होती। उसके अनन्तर प्रार्थना का क्रम आता है। गुणों को जान कर उसके अनुरूप बनने की प्रार्थना करना अथवा उन गुणों को परमेश्वर से माँगना। प्रार्थना की सिद्धि होने से अहङ्कार का नाश होता है। अभिमान के नष्ट होजाने से फिर उपासना के क्रम में उपासक की स्थिति होती है। उप का अर्थ समीप और आसना का अर्थ बैठना है। जिसमें उपासक उपास्य के समीप बैठ जाता है वही उपासना है। इसकी सफलता उपास्य के गुणों को धारण कर लेने में है। लोहा जिस प्रकार अग्नि के गुणों को धारण कर लाल होजाता है वैसे ही उपासक को उपास्य के गुणों को धारण कर तद्भिन्न होते हुए भी तत्सम हो जाना चाहिये। इसी में उपासना की सार्थकता है। वेदों और उपनिषदों आदि में इस उपासना का बड़ा माहात्म्य गाया गया है। परन्तु इसका क्रम स्तुति, प्रार्थना और उपासना के सिलसिले से ही है। एक के बाद

दूसरे की सिद्धि होती है। समाधि उच्च कोटि की उपासना है। इसमें उपासक उपास्य के समान भासित होने लगता है और दोनों का भेद न सा ही प्रतीत होने लगता है। इसकी सिद्धि होजाने पर निःश्रेयस अथवा मोक्ष के सारे प्रतिबन्धों का नाश होजाता है और आत्मा अपने शुद्धस्वरूप में आजाती है। यह मानव की उन्नति की एक अत्यन्त असाधारण अवस्था है। इस प्रकार कर्मयोग इसका साधन है। कर्मयोग ही एक प्रकार से भक्ति भी कहा जाता है। भक्ति में भी भक्त कर्मों के फलों को भगवान् में अर्पण कर देता है। यह भक्ति क्या है इसका अर्थ दर्शन कारों ने किया है कि परम गुरु परमेश्वर में सभी कर्मों के फलों का अर्पण अथवा कर्मफल-संन्यास। कर्म फल में ममता न रखकर परमेश्वर की अर्चा, चिन्तन और भजन वास्तव में भक्ति है। यदि इसका उहापोह किया जावे तो भक्ति और कर्मयोग में अत्यन्त समता दिखलायी पड़ेगी। भक्ति का अर्थ भाग एवं विभक्ति है। जिसको हम पृथक्करण कह सकते हैं। संसार एवं प्रकृति से अपने को विभक्त करना, अपने स्वरूप को निखेर कर परमेश्वर के स्वरूप से भी अपने को पृथक् अस्तित्व वाला भासित करना यह भक्ति का वास्तविक रूप है। भक्त को यह समझना चाहिये कि मैं कौन हूँ, संसार क्या है? उससे हमारा क्या सम्बन्ध है और हमारे कल्याण का परमतत्व क्या है जिससे मिलने पर शान्ति लाभ हो सकता है। प्रकृति के साथ जीव का स्वरूप संकीर्ण है। वह प्रकृति के शीशे से ही सबको तथा अपने को देखता है। इस शीशे को हटाकर प्रकृति से अपना पृथक्करण ही भक्ति का अर्थ है। इस विभक्ति एवं पृथक्करण में भी एक क्रम है। पहले दृश्य संसार को समझना और उसके विश्लेषण से उसके कारणभूत मूलतत्व प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करना। तदनन्तर

उससे अपने सम्बन्धों का विश्लेषण कर अपने को उससे पृथक् करना। इसके अनन्तर परम-आत्म-तत्व को समझना और उसी में, उसी के लिए, उसी के उद्देश्य से उसके प्राप्ति के योग्य कर्मों को करना—भक्ति का परमतत्व है। इसी दृष्टि को ध्यान में रखते हुए वेद में प्रकृति, जीव और परमेश्वर के लिये उत्, उत्तर और उत्तम विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं। उत् से उत्तर सूक्ष्म है इसलिए तरप् प्रत्यय और उससे एवं सबसे उत्तम सूक्ष्म है–इसलिए तमप् प्रत्यय किया गया है। प्रकृति 'उत्' है। इसके ज्ञान के अनन्तर ही जीव का ज्ञान होता है। इसलिए जीव को उत्तर कहा है। जब भक्त उत् को समझ कर उत्तर को अर्थात् अपने को जान लेता है तब वह उत्तम के स्वरूप को जानने में समर्थ होता है। अपने स्वरूप को जब तक भक्त प्रकृति की संकीर्णता से निखार नहीं लेता तब तक वह उत्तम-तत्व परमेश्वर को नहीं प्राप्त कर सकता है। ये तीनों ही ज्योतियां हैं। प्रकृति की अपेक्षा जीवात्मा की ज्योति उत्तर है और सबकी अपेक्षा परमात्मा की ज्योति उत्तम है। इन तीनों के स्वरूपों को समझना वास्तविक भक्ति है। विना ऐसा किये भक्ति की सार्थकता नहीं। बहुत से ऊपरी आडम्बर तो करना परन्तु आन्तरिक तत्व को न समझना भक्ति के स्वरूप को बिगाड़ देता है। कई लोगों का यह विचार है कि भक्ति में तर्क को स्थान नहीं केवल श्रद्धा ही उसमें ओत प्रोत रहती है। ज्ञान की कोई उसमें आवश्यकता नहीं। परन्तु यह कथन एवं विचार युक्तियुक्त नहीं। ज्ञान के विना केवल अन्ध विश्वास पर कोई भक्ति चल नहीं सकती। ज्ञान का होना तो सभी कर्मों में आवश्यक है। भक्ति में ज्ञान को तिलांजलि कैसे दी जासकती है। श्रद्धा को ही लीजिए इसमें भी तो अन्धविश्वास को स्थान नहीं है। 'श्रद्धा' पद में श्रत् और धा दो का संयोग

है। श्रत् का अर्थ सत्य है और धा का अर्थ धारण। अर्थात् जिससे सत्य का धारण हो वह श्रद्धा है। जब श्रद्धातत्त्व में ही सत्य का सन्निवेश है तो फिर उससे होने वाली भक्ति में ज्ञान एवं उसका अभाव कैसे हो सकता है। सत्य की खोज और उसका धारण ही तो परम ज्ञान है। उसी में सभी ज्ञानों का अन्तर्भाव है। जब भक्ति में सत्य का धारण बना है तो फिर ज्ञान के अभाव एवं कोरे अन्ध-विश्वास को स्थान कैसे मिल सकता है। वेद से लेकर उपनिषदों तक में सत्य का अर्थ भी विचित्र किया है। वस्तुतः परमेश्वर ही सत्य है। सत्य-पद तीन पदांशों का बना है। 'सत्' 'ति' और 'यम'–ये तीन पदांश हैं। सत् का अर्थ अमृत है जो सदा तीनों कालों में रहने वाला है। 'ति' का अर्थ मर्त्य है जो विनश्वर है और सर्वदा बदलता रहता है। 'यम' का अर्थ है नियम में रखना। जो 'सत्' और 'ति' को नियम में रखता है वह 'यम्' है। इस प्रकार सत्य का अर्थ है मर्त्य और अमर्त्य को नियम में रखने वाला। मर्त्य यह प्राकृतिक जगत् है जो क्षण भंगुर है और सर्वदा बदलता रहता है। जगत् तो उसका नाम ही है। अमर्त्य अर्थात् अमर यह जीव है जो प्रकृति के सम्बन्ध से फलों को संसार में भोगता है परन्तु जन्म, मरण धारण करते हुए भी अपने स्वरूप से अमर है। और नित्य होने से सर्वदा रहने वाला है। परमेश्वर इस जगत् और जीव को नियम में रखता है–इसलिए उसका नाम सत्य है। इस सत्य को धारण करना ही वास्तविक श्रद्धा है जो कि भक्ति में परम आवश्यक वस्तु है। सत्य का धारण हृदय में होता है जब कि इसका निर्णय मस्तिष्क में होता है। श्रद्धा भी हृदय का ही धर्म है। इसका भी एक रहस्य है। हृदय पद की व्याख्या हमारे अध्यात्म ग्रन्थों में की गयी है। हृदि अयम्, अर्थात् हृदय में यह परमेश्वररूपी सत्य है। हृदय

देश में ही उसका दर्शन और धारण होता है। श्रद्धा के हृदय में होने से श्रत् जो सत्य है वह भी हृदय में ही माना गया है। श्रद्धा हृदय में रहती है और वही सत्य को धारण करती है। सत्य मर्त्य और अमर्त्य दोनों को नियम में रखने वाला तत्व है। यह श्रद्धा ही चूंकि भक्ति में प्रधान है अतः भक्ति का अर्थ भी जगत्, जीव और परमेश्वर के स्वरूप को विभक्त करके उसे प्राप्त करना है। परिणाम यह निकला कि भक्ति केवल अन्ध-विश्वास का नाम नहीं अपितु सत्य के विश्लेषण पूर्वक कर्मों को करना है। वह भी सभी कर्मों और उनके फलों को परमेश्वरार्पण करते हुए।

कर्मयोग और भक्ति का विवेचन पूर्वोक्त प्रकार से परस्पर समन्वय खाता है। जो कर्म करने की विचित्र प्रणाली है वही भक्ति का गहन तत्व है। कर्मयोग में फलेच्छा का त्याग और असंग का ग्रहण है। भक्ति में भी कर्म और फलों को ईश्वरा-र्पण कर देने से वही भावना व्यक्त होती है। असंग उसमें भी ठीक उसी प्रकार है जैसा कर्मयोग में। किन कर्मों को करना चाहिए और किन्हें नहीं—इस प्रश्न के उठने पर इसमें भी जगत्, जीव, उसके सम्बन्ध और परमात्म-तत्व का विचार करना पड़ता है। क्योंकि इन के सम्बन्धों को विना जाने हुये कर्तव्य और अकर्तव्य का निर्णय करना कठिन है। भक्ति में भी विना जगत्, जीव और परमेश्वर के स्वरूप का विश्लेषण किये हुए कार्य नहीं चलता। ज्ञान कर्मयोग में भी आवश्यक है और भक्ति में भी। कर्मयोग का भी अन्तिम फल कैवल्य है और भक्ति का भी। कर्मयोग से भी उपासना का मार्ग सरलता से गृहीत होता है और भक्ति का तो फल ही समाधि है जो पर-मोपासना है। किन्हीं कोरे ज्ञानमार्ग के आग्रही व्यक्तियों ने इन मार्गों का खण्डन किया है परन्तु वह सारभूत नहीं।

इनकी महत्ता सर्वसिद्ध और उपयोगी है। ये मार्ग भी वहीं पर पहुँचाते हैं जहाँ पर ज्ञान मार्ग वाले पहुँचने का दावा करते हैं। इनमें न ज्ञान का अभाव है और न ज्ञानमार्ग में विना कर्म और भक्ति-भावना के कोई कार्य चल सकता है— समन्वय में ही परम कल्याण है।

द्वादश सोपान

कर्म और मानव के अन्तिम उद्देश्य की पूर्त्ति

मानव-जीवन का वसुन्धरा पर अवतरण किसी महान् उद्देश्य के लिये है। वह एक पूर्णता का पक्षपाती है उस, पूर्णता को प्राप्त करने के लिए ही सारे कर्मों का सृजन करता है। पूर्व कहे गये जितने कर्म-कलाप हैं, सभी उस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये किये जाते हैं। वह शास्त्रों के मन्थन और तद्विहित समस्त कर्मों के करने में इसीलिए प्रवृत्त होता है कि उस अपनी पूर्णता की अवस्था को प्राप्त करने का वह इच्छुक है। संसार में उसे सुख भी है, और सारी सुख की सामग्री भी प्राप्त है परन्तु इस के होते हुए भी वह इसमें पूर्ण शान्ति नहीं देखता। वह पूर्णशान्ति को खोजता है। संसार में जहाँ सम्पत्ति का सुख है वहाँ विपत्ति भी है, जो उस सुख को रहने नहीं देती। जहाँ यौवन है वहाँ जरा अवस्था भी है, जो शरीर को सदा तरुण नहीं रहने देती। जीवन के साथ मृत्यु का भी महान् भय सदा सताये रहता है। सुख है परन्तु सुखों को भोगने से तृप्ति नहीं—इसलिए वह परमतृप्ति, परमशान्ति और परम-निर्वाण को ढूढ़ता है, जिसमें है स्थायित्व और स्थैर्य। संसार के सुखों से तृष्णा की निवृत्ति होती नहीं, वह सदा बढ़ती ही

जाती है। बढ़ती भी यहाँ तक है कि स्वयं एक महान् दुःख का विषय बन जाती है। उसके विनाश से प्राप्त होने वाला सुख महान् और महत्तम है। उसके लिए समझदार मानव सर्वदा प्रयत्नशील है। उसे ही दार्शनिक परिभाषा में मुक्ति-सुख, मोक्षानन्द, परमानन्द कहा जाता है। इसी के लिये विविध उपयोगी कर्म, धर्म, वैराग्य आदि किये जाते हैं। कुछ लोग जो शास्त्रीय बातों में विश्वास नहीं करते और जिन्हें आत्मा के अस्तित्व तथा परलोक की गतियों में विश्वास नहीं है-वे कहते हैं कि मोक्ष आदि के विषय में कुछ कहना व्यर्थ है। ऐसी पूर्णावस्था कोई है-इसका प्रमाण नहीं मिलता। परन्तु प्रमाण वस्तुतः प्रत्यक्ष ही है। उसका अपलाप भी नहीं किया जासकता। यदि मोक्षानन्द है ही नहीं कोई वस्तु तो लोगों की उसके लिए प्रवृत्ति ही क्यों? यह स्वाभाविक-प्रवृत्ति उसके होने का एक परम प्रमाण है। वर्षाकाल में वृष्टि पड़ते ही अनेका घास और वृक्षों के अंकुर निकल पड़ते हैं। अंकुरों का इस प्रकार निकलना इस बात का प्रमाण है कि पृथ्वी में उनके बीज पहले से ही उपस्थित थे। बिना बीज के अंकुर तो पैदा हो नहीं सकते। इसी प्रकार मोक्षविषय की प्रवृत्ति जो लोगों में स्वयं पल्लवित होरही है, इस बात का अनुमान कराती है कि मोक्ष कोई वस्तु है जिसके लिये मानव यत्नशील है। मृत्यु का भय, जो इस जन्म में पुरुष को मिला नहीं जिस प्रकार उसके पूर्वजन्म और मृत्यु का अनुमान कराता है उसी प्रकार यह आत्मभावना और कैवल्येच्छा भी पूर्ववर्त्ती अनुभूत मोक्षानन्द की अनुमापिका है। मैं क्या था? क्या हूँ, कैसा था? और कैसा हूँ? क्यों था और क्यों हूँ? यह संसार और जन्म क्या है? और क्यों है? आगे मैं क्या होऊँगा? और किस प्रकार एवं क्यों वैसा होऊँगा-यह भावना मानव में स्वभावतः

उठती है। यह ही उसके उस उद्देश्य को भी जनाती है जो मोक्षानन्द के नाम प्रसिद्ध है। इस प्रकार मोक्षानन्द की भी कोई स्थिति है-इसके सिद्ध होजाने पर उसकी प्राप्ति के लिये यत्न मानव को करना चाहिए, ठीक ही है। संसार में सुख के मध्य में आने वाली दुःखों की चपेटें उसे स्मरण दिलाती रहती हैं कि वह परम सुख के लिये प्रयत्न करे। हमारे शरीर में जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति अर्थात् गाढ़निद्रा की अवस्थायें हैं। जागरण में शरीर को सुख, दुःख, ज्ञान आदि सभी प्राप्त होता है। स्वप्न में केवल स्वप्न दिखलायी पड़ता है। उस समय बाहरी शरीर का न तो कार्य ही होता है और न बाह्य ज्ञान ही रहता है। केवल मन कार्य करता है और अनुभूत संस्कारों के अनुसार विविध स्वप्नों का सर्ग करता है। स्मृति दो प्रकार की होती। एक में अनुभूत विषय जिसकी स्मृति हो रही है उपस्थित रहता है और दूसरे में नहीं। स्वप्न में यह दूसरे प्रकार की ही स्मृति होती है। सुषुप्ति में न जागरण रहता है, न स्वप्न रहता है। आत्मा स्वयं कार्य करती है। गाढ़ निद्रा से उठने पर यह भान होता है कि बड़े सुख से सोया। यद्यपि जागृत में सभी कुछ प्राप्त है, स्वप्न में उसका संस्कार भी है परन्तु कोई भी व्यक्ति सदा जागरण में रहने का प्रयत्न नहीं करता और न वह स्वप्न ही देखना चाहता है। सुषुप्ति में थोड़ा ही सुख प्राप्त होता है परन्तु चाहते सभी हैं। इसी प्रकार संसार के सुखों के रहते हुये भी मानव परम और आत्यन्तिक सुख की इच्छा करता है। यह सुख तब प्राप्त होता है कि मानव अपना और संसार तथा परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त कर लेवे। संसार में प्रकृति का नाटक बहुत रम्य है। जीव उसमें फँसा हुआ उसी के अनुरूप अपने को देखता है। इसमें उसे भिन्न सुख दुःख पर्याय से प्राप्त होते रहते हैं। प्रकृति के इस बन्धन में फँसने का

कारण जीव का अपने स्वरूप का न पहचानना और प्रकृति से संकीर्ण ही अपने स्वरूप को देखना है। वह स्वयं नित्य है परन्तु शरीर के संयोग से मानता है कि वह मोटा होता है, दुःखी होता है और मरता है। यह उसके स्वरूप के विपरीत प्रकृति से आयी हुई बात है। प्रकृति के विकारों के धर्म को वह अज्ञान से अपने में आरोपित करता है। इस आरोप का कारण अविद्या है। यह अविद्या ही सभी दुःखों की जड़ है। जन्म, मरण आदि के चक्र भी इसीसे चलते रहते हैं। यह अविद्या पाँच पर्वों वाली है। वे हैं–अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। वस्तु को स्वरूप से विपरीत समझना अविद्या है। बुद्धि और आत्मा के धर्मों को एक मानना अस्मिता है। सुख दुःख बुद्धि के धर्म हैं परन्तु जीव अविद्या से उन्हें अपना मानता है। सुख के साधनों में प्रीति का नाम राग और दुःख के साधनों में अप्रीति का नाम द्वेष है। मृत्यु से होने वाले भय का नाम अभिनिवेश है। यह विद्वान से लेकर मूर्ख तक में एक समान ही विद्यमान है। परन्तु इन सबकी जड़ अविद्या ही है। वह मूल होने से सब का क्षेत्र है। अविद्य शब्द का अर्थ लोग कभी कभी "न विद्या अविद्या" इस व्युत्पत्ति के अनुसार ज्ञानाभाव ले लेते हैं और यह प्रश्न उठा देते हैं कि जो स्वयं अभाव रूप वस्तु है वह भावरूप बन्ध का कारण कैसे हो सकती है? परन्तु यह केवल अविद्या के अर्थ को ठीक न लगाने पर अवलम्बित है। अविद्या का अर्थ वस्तुतः ज्ञानाभाव नहीं बल्कि ज्ञान के विपरीत मिथ्या अथवा उल्टा ज्ञान है। वह अभाव रूप नहीं अपितु भावरूप ही है। भावरूप होने से वह बन्धन का कारण बन सकती है। मानव को समस्त दुःख बन्धन से है और बन्धन अविद्या का परिणाम है। सभी दुःख भी इसी बन्धन से हैं बन्धन के छूट जाने पर

मोक्ष होता । है बन्धन के कारण की मीमांसा करते हुए कई विकल्प उठाये जाते हैं । प्रथम विकल्प यह है बन्धन जीव को स्वभाव से है । परन्तु इसका खण्डन इस प्रकार से हो जाता है कि स्वभाव का कभी नाश तो होता नहीं । यदि बन्धन स्वाभाविक है तो फिर वह सदा बना रहेगा, नाश के लिये प्रयत्न व्यर्थ है । फिर तो मोक्ष भी कभी नहीं हो सकेगा । इसलिये यही मानना ठीक है कि बन्धन स्वाभाविक नहीं । यह बन्धन देश और काल के योग से हो सकता है यदि यह मान लिया जावे तब भी प्रशस्त नहीं क्योंकि देश और काल भी तो सर्वत्र सर्वदा वर्तमान हैं-फिर ऐसे बन्धन को हटाया कैसे जा सकेगा । बन्धन को यदि जीव का अपना धर्म मान लिया जावे तब भी ठीक नहीं क्योंकि ऐसा मानने पर फिर मोक्ष का प्रश्न ही नहीं उठता । देह के धर्म से यह बन्ध है-ऐसा भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि देह की प्राप्ति ही बन्ध के कारण है । केवल प्रकृति के सम्बन्ध से भी बन्धन को नहीं माना जा सकता-क्योंकि प्रकृति का सम्बन्ध तो मुक्तावस्था में भी रहेगा । यदि प्रकृति बन्धन का कारण केवल मानी जावे तो फिर भी बन्धन सदा रहेगा और मुक्तों को भी बन्धन में ही मानना पड़ेगा । अतः केवल प्रकृति बन्धन का हेतु नहीं बल्कि अविद्या जनित प्रकृति के सम्बन्ध से पुरुष को बन्धन है । प्रकृति का सम्बन्ध जब पुरुष को अज्ञान-निमित्त से होता है तभी बन्धन उसको होता है । ज्ञानजन्य प्रकृति का सम्बन्ध बन्धन का कारण नहीं । निष्कर्ष यह है कि बन्धन का कारण अविद्या एवं मिथ्या-ज्ञान है । इस मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति भी ज्ञान से होती है अतः ज्ञान ही मोक्ष का परम कारण है । बन्ध मिथ्याज्ञान से होता है और मोक्ष ज्ञान से होता है-यह ही प्रधान सूत्र हैं । इस ज्ञान की प्राप्ति भी कोई साधारण कार्य नहीं । ज्ञान भी कर्म-

पूर्वक ही प्राप्त होता है। यदि कर्मों को न किया जावे तो ज्ञान को भी कोई विना इनके नहीं प्राप्त कर सकता है। कर्म से चित्त की वृत्तियां शुद्ध होती हैं और उससे पुनः यथार्थ ज्ञान का मार्ग खुल जाता है। मोक्ष के दाता ज्ञान के साधन अभ्यास और वैराग्य हैं। इससे ही वह ज्ञान प्राप्त होता जो अन्त में मोक्ष देता है। कर्म और ज्ञान के समुच्चय से मोक्ष होता है-यही दार्शनिकों का विचार है। केवल ज्ञान से ही मोक्ष होता है-यह पक्ष ठीक होते हुए भी, अज्ञान के नाश का कारण ज्ञान होते हुए भी-कर्म साधन होने से उसका परित्याग नहीं किया जासकता। उदाहरण के रूप में एक नौका को लिया जासकता है। कोई व्यक्ति यदि नदी के एक कूल से दूसरे कूल पर जाना चाहता है तो उसे नौका का आश्रय लेना होगा। नौका उसे पार ले जावेगी परन्तु कूल पर आरूढ़ होने में नौका को पानी में छोड़ना पड़ेगा। विना उसे छोड़े वह कूल पर पग नहीं रख सकता। यही हाल कर्म का है। कर्म ज्ञान का उदय करा देता है। पुनः ज्ञान के उदयानन्तर इसे छोड़ देना पड़ता है। ज्ञान मोक्ष का कारण बन जाता है। यह परम्परा है जिसके अनुसार कर्म और मोक्ष के सम्बन्धों पर विचार करना पड़ता है। जो ज्ञान हमें प्राप्त है वह अल्प है। केवल वही मोक्ष को दे देगा-पर्याप्त नहीं। यह बहुत से लोग जानते हैं कि आत्मा को सुख, दुःख नहीं होता। यह मन और शरीर का धर्म है, आत्मा निर्द्वन्द्व और अमर है। परन्तु इतना जानने पर भी दुःखी होते हैं जब किसी प्रकार का दुःख का साधन उपस्थित हो जाता है। जानकारी तो है परन्तु प्रयोग में नहीं। केवल किसी वस्तु का जानना पर्याप्त नहीं जब तक वह व्यवहार में न हो। व्यावहारिकता के लिए उत्तम कर्मों का चयन करना पड़ेगा। जो मन की वृत्ति को स्थिर, स्वस्थ और निर्मल बनावेंगे, जिससे ज्ञान

को प्रयोगात्मक रूप मिल सके। हमें जो ज्ञान है वह भोग से मिश्रित है–विशुद्ध नहीं। भोग से पृथक् करके उसे विशुद्ध बनाना पड़ेगा तब वह उपयोगी हो सकेगा मोक्ष प्राप्ति में। प्रत्येक मनुष्य के ज्ञान में भोग दूध में मक्खन की भाँति ओत प्रोत है। मिर्च को लोग कड़वी और मिश्री को मीठो कहते हैं। इस कड़वाहट और मिठास के ज्ञान में भोग भी सम्मिलित है। इसमें से भोगानुभूति और ज्ञान को पृथक् पृथक् करना होगा। तभी ज्ञान का शुद्ध स्वरूप निखरेगा। निखरा हुआ ही ज्ञान तात्विक ज्ञान कहलाता है। "गौ" कहने पर भी ऐसा ही समझना चाहिये। 'गौ' और 'घट' एवं 'पट' कहने से उसमें तीन बातें मिश्रित हैं। उन मिश्रणों को पृथक् किये विना शुद्ध 'गौ' 'घट' और 'पट' का स्वरूप नहीं जाना जा सकता और न इनका विशुद्ध ज्ञान ही हो सकता। "गौ" शब्द भी है, गौ अर्थ भी है और गौ ज्ञान भी है। ये तीनों ही हमारे इस "गौ" कहने में संकीर्ण हैं। जब बुद्धि प्राकृतिक प्रत्ययों से निखर जाती है तब इनमें से केवल वास्तविक "गौ" के स्वरूप का ज्ञानमात्र रह जाता है। दूसरी बात यह है कि हमारा प्रत्येक सांसारिक अनुभव इन्द्रिय जन्य है। वह इन्द्रियां भोग आदि उपाधियों के बिना ज्ञान को हम तक नहीं पहुँचातीं। हमें इनसे जो ज्ञान होता है वह देश और काल की सीमा में वन्धा है। हमारा कोई भी ज्ञान ऐसा नहीं हो पाता जो देश और काल की सीमा को पार कर जावे। इस–दैशिक और कालिक बन्धन से हमारे ज्ञान में सदा अल्पज्ञता का पुट लगा रहता है। यह अल्पज्ञता तब तक दूर नहीं हो सकती जब तक हमारे ज्ञान के साधन इन भित्तियों के पार न जा सकें। इन्द्रियां न अत्यन्त समीप की वस्तु को देख सकती हैं और न अत्यन्त दूर की। न वे अपने में व्याप्त को देख सकती हैं और न दूसरे से पिहित को। वे अत्यन्त लघु काल की बात

को न जान सकती हैं और न बहुत लम्बे काल के गर्भ की बात को ही। इसका प्रधान कारण है कि इनमें कर्म के फल के कारण एक बन्धन, जिसका नाम करणभाव है, लगा हुआ है। प्रत्येक जीव को प्राप्त अन्तःकरण और बाह्यकरण इस करणत्व-भाव से युक्त हैं और यह करणत्व है क्या? प्रत्येक जीव के कर्मानुसार प्राप्त जन्म, आयु और भोग की सीमा के बाहर इन्द्रियों का न जाना। हर एक जीव के मन आदि का इनकी सीमा में कार्य कलाप होता है। दूसरे के क्षेत्र में वह नहीं पहुँच सकता। इन्हीं परिधियों और उपाधियों के कारण मन को एक समय में एक से अधिक ज्ञान, तात्कालिक ज्ञान, और अक्रमोपारुढ़ ज्ञान नहीं होता। परन्तु जिस समय योगाङ्गों के अनुष्ठान से चित्तवृत्तियों को एकाग्र कर लिया जाता है, धारण आदि से इन्द्रियों पर विजय कर लिया जाता है, संस्कार और वासनाओं के उच्छेद से मन को विकरणत्व अर्थात् करणत्व-राहित्य प्राप्त हो जाता है—उस समय मन को एक साथ ही सब विषयों का विना-व्यवधान, तात्कालिक, अक्रमोपारुढ़ ज्ञान होता है। यह ज्ञान वास्तव में-सर्व विषय (Omni-objective) सर्वथा-विषय (Immediate) और अक्रमोपारुढ़ (Simultaneous) होता है। इसमें शब्द, अर्थ, ज्ञान और अनुमान तथा स्मृति की संकीर्णता नहीं रहती केवल विशुद्ध वस्तुज्ञान ही रहता है। यह मोक्ष की ओर लेजाने वाला होता है और पुरुष के केवलीभाव को प्राप्त कराता है। परन्तु यह स्थिति प्राप्त कैसे हो। इसी के लिये योग के अंगों—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि की सिद्धि करना पड़ता है। मानव के चित्त की वृत्तियां बड़ी चंचल हैं। उनमें मल, विक्षेप और आवरण है। उनकी निवृत्ति कर उन्हें एकाग्र करना विना कठिन अभ्यास और वैराग्य तथा योग के

अन्य साधनों के विना संभव नहीं। ये योग के कर्म चित्त-परिकर्म कहे जाते हैं और इन्हीं का दूसरा नाम क्रियायोग है। क्रियायोग और कर्मयोग में कोई विशेष अन्तर नहीं है। समाधि, जो योग का आठवां अङ्ग है पहले क्रियायोग के पालन से विना, सिद्ध नहीं होता है। क्रियायोग से समाधि के लिए चित्त योग्य बना करता है। यदि योग के सभी अंगों पर विचार किया जावे तो ज्ञात होगा कि यह एक प्रकार से उत्तम कर्म-युक्ति एवं कर्म कौशल ही हैं। प्रथम अंग यम और द्वितीय नियम है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच यम कहे जाते हैं और ये ही कर्म मीमांसा एवं धर्म विचार में नीति के मूल तत्व हैं। शौच, सन्तोष, तपः स्वाध्याय, और ईश्वरप्रणिधान नियम कहे जाते हैं। ये भी धर्म के मुख्य अङ्गभूत कर्म ही हैं। इन दोनों में सामाजिक धर्म और वैयक्तिक धर्म का सन्निवेश है। नीतितत्व का विवेचन करते हुए पूर्व इनका वर्णन किया गया है। इसके वाद आसन और प्राणायाम का वर्णन आता है। आसन शारीरिक परिश्रम के साथ किये जाने वाला कर्म एवं प्राणायाम प्राणों का आयाम अर्थात् व्यायाम है। प्राण को रोकना और बाहर निकालना आदि इसमें हुआ करता है। इसमें कई भेद हैं। प्रत्याहार इन्द्रियों के निग्रह का नाम है। इससे इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होती है। ध्यान, धारणा मन के धारण और एकाग्र करने से सम्बन्ध रखते हैं। अन्त में समाधि उत्तम अवस्था का नाम है और यह अंग सभी के सिद्ध होने के वाद सिद्ध होता है। परन्तु विशेष अधिकारियों के लिये यह विकल्प है कि ईश्वर-प्रणिधान एवं भक्ति से ही समाधि की सिद्धि होती है। योग के अङ्गों में कर्मों का किस प्रकार सन्निवेश है यह विवेचन से स्पष्ट है। परन्तु इनमें भी विशेष तत्व, जिन्हें साक्षात् क्रिया-

योग कहा जाता है, वे हैं–तपः, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान। सुख, दुःख, भूख, प्यास, शर्दी, गर्मी, मान, अपमान, विषयेच्छा आदि का सहन करना तप है। विना तप के योग की सिद्धि नहीं होती। अनादि काल से चली आने वाली वासनारूपी चित्त की अशुद्धियां विना तप के नहीं छिन्न हो सकतीं। स्वाध्याय ओंकार का जप और मोक्ष प्रतिपादक शास्त्रों का अध्ययन तथा मनन है। प्रणव के जप और शास्त्रों के अध्ययन से मोक्ष साधनों और परमेश्वर में प्रीति होती है। जप से वाणी में संयम आता है और मन को एकाग्रता का लाभ भी होता है। ईश्वरप्रणिधान का अर्थ है सारे कर्मों का परम गुरु परमेश्वर में समर्पण अथवा कर्मों के फल का परित्याग। गीता प्रोक्त-कर्मयोग वस्तुतः इस ईश्वरप्रणिधान में ही अन्त र्भूत हो जाता है। कर्मफल के परित्याग से अनासक्ति और वैराग्य दृढ़ होता है। ईश्वर में समस्त कर्मों का अर्पण ही वस्तुतः भक्ति है। यह भक्ति समाधि की सिद्धि भक्त को करा देती है। इन क्रिया योग के तत्वों को चित्त-परिकर्म भी कहा जाता है अर्थात् ये चित्त की वृत्तियों को शुद्ध करते हैं। अभ्यास और वैराग्य इस दिशा में बहुत बड़े साधन हैं। मन बहुत ही चंचलतावाला है। उसकी इस चंचलता को दूर कर उसे स्थिरता में लाने के लिए अभ्यास और वैराग्य अमोघ अस्त्र है। मन में दो प्रकार की वृत्तियाँ कार्य कर रही हैं। उनमें से एक तो भोग के विषयों में बहती हुई संसार में गिरती हैं। दूसरी कैवल्य से निकलकर निवृत्ति में गिरती हैं। यदि पहली वृत्तियों के प्रवाह को बन्द कर दिया जावे तो दूसरी का प्रवाह तीव्र हो जावेगा। इस प्रकार अभ्यास से वह दूसरी वृत्ति ही तीव्रगति से अपना कार्य करने लगेगी। संसार के प्रत्येक पदार्थ में, जो राग का है उसमें राग और जो उसके

प्रतिकूल है उसमें द्वेष के भाव मनुष्य में जागृत होते हैं। इस राग को और द्वेष को समाप्त करना वैराग्य है। संसार के दोषों को देखने से यह वैराग्य-भावना उत्पन्न होती है। एक तरुणी ही को ले लीजिए। उसके सौन्दर्य को देखकर यह भावना बनी हुई है कि यह चन्द्रलोक से सीधे ही उतरी है। साक्षात् काम और वसन्त ने इसे लावण्य और रूप दिये हैं। इसका मुख क्या है? कलङ्करहित चन्द्रमा है। ओष्ठ ओष्ठ नहीं पके हुए बिम्ब के फल हैं। शरीर लावण्य की वापी है, जिसमें स्नान करना सुखप्रद है। ऐसी भावना से मनुष्य इसमें राग को बढ़ा लेता है। परन्तु जब दिन प्रति दिन दोष सामने आने लगते हैं तो उसमें भी घृणा होती है और उसी को वह त्याज्य समझने लगता है। मुखचन्द्र को वह थूक का आगार और स्तन को मांस का पिण्डमात्र समझने लगता है। इससे उसे इसमें निर्विण्णता प्राप्त हो जाती है। शरीर में प्रीति है परन्तु प्रतिदिन सफाई करने पर भी नाक, मूत्र आदि गंदगियों को देखकर उसके कारण का विचार पैदा होता है। कारण को देखने पर उसमें समलता दिखलायी पड़ती है और पुनः उससे भी विराग हो जाता है। पुत्र के प्रति महती ममता और आत्मीयता मानव को होती है। माता पिता के स्नेह की ग्रन्थि की ही अपत्य संज्ञा है। परन्तु जब मौत उसे भी छीन लेती है अपना कोई वश नहीं चलता तो उसमें भी वह आत्मीयता नष्ट हो जाती है और उसमें भी विरक्ति होने लगती है। संसार के वैभव में बड़ा ही प्रेम है परन्तु जब उनकी क्षणभंगुरता देखी जाती है तो उनसे भी चित्त ऊब जाता है। किसी कवि ने यह ठीक ही कहा है कि धन भूमि में गड़ा रह जाता है। पशु घुड़साल में पड़े रह जाते हैं। अपनी स्त्री भी मुर्दा शरीर को दरवाज़े तक पहुँचा देती। परिवार के लोग श्मशान घाट तक

शरीर को ले जाते हैं। शरीर भी चिता पर जलकर राख हो जाता है और इसके आगे अपने साथ नहीं जाता। केवल अपने कृतकर्मों को लिए हुए आत्मा ही जाती है। इस प्रकार की भावना जब मनुष्य में आजाती है तब उसे सारे संसार से विरक्ति होने लगती है। वह समझने लगता है कि–यह स्त्री, पुत्र, धन, आदि आत्मा नहीं–ये अनात्म पदार्थ हैं। इनसे परे अविनाशी आत्मा को ही ढूंढना चाहिये। इस प्रकार इन योग के कर्मों से चित्त की वृत्तियाँ निर्मल होजाती हैं, समाधि अवस्था की सिद्धि होजाती है। उससे प्रातिभ ज्ञान का उदय होता है और सारे बन्धन को काट देता है। योग में इस मोक्ष के दाता ज्ञान की 'ऋतम्भरा' संज्ञा है। इसका अर्थ है सत्य को धारण करने वाली बुद्धि। इसमें असत्य का सन्निवेशमात्र भी नहीं रहता। सत्यभूत तत्व ही भासित होता है। परिवर्तनशील वस्तुओं के पर्दे में एक स्थिर, शाश्वत् ब्रह्म दिखलाई पड़ने लगता है। जीवन में रहते हुए भी इस अवस्था को पहुँचे हुए व्यक्ति में बन्ध का भाव समाप्त होजाता है। वासना का अभाव होकर क्लेश निर्मूल होजाते हैं। वह पुरुष जीवन मुक्त होजाता है। इस प्रकार कर्म ज्ञानोदय तक पहुँचता है और ज्ञानोदय के बाद वह स्वयं बन्धनों को शिथिल करता है। उससे मोक्ष प्राप्तिहोती है। फलतः कर्म मोक्ष को सिद्ध करने वाले ज्ञान का साधक है और मनुष्य को ऐसे कर्मों का परित्याग नहीं करना चाहिए। मानव को अपने इस अन्तिम जीवनोद्देश्य के लिए सर्वत्र सर्वदा जागरूक रहना चाहिए। मानवता की पूर्णता इसी में है। इसको दृष्टिकोण में रखते हुए ही कर्मों को करना चाहिए। वस्तुतः यह संसार कर्म की भूमि है। इसमें भी मानवजीवन तो अमूल्य है और इस अवसर को छोड़ना नहीं चाहिये। यदि एक बार आया हुआ मौका नष्ट हुआ तो फिर पता नहीं कब हाथ आवेगा॥ इति॥